पञ्चम पुष्प

प्रकाशक

सरस्वती ग्रन्थमाला

मुख्य कार्यालय
ए-२८, जनता कॉलोनी
जयपुर–३०२००४

कार्यालय
२१५१ हुँवरी भवन
मनिहारों का रास्ता
जयपुर ३

मूल्य ३१.००

प्रकाशकीय

वैद्य प्रभुदयाल जी कासलीवाल की यह एक और नयी देन (नूतन रचना) हमारे समक्ष है। इससे पूर्व इनकी अन्य कृतियो मे आत्मविनिश्चयम्, प्रवचनसार प्रकाश, समयसार प्रकाश, पचास्तिकाय प्रकाश आदि प्रमुख कृतिया समाज द्वारा बहुत आदृत हुई है। कासलीवाल जी का यही प्रयत्न रहता है कि जन सामान्य भी जैन धर्म एव दर्शन को भलीभाति समझ सके। शायद इसलिये ही उन्होने पूर्व ग्रन्थो मे कुन्दकुन्दाचार्य के प्राकृत गाथाओ मे निबद्ध ग्रन्थो को न केवल सरल हिन्दी पद्यानुवाद ही किया है अपितु अपनी रचना को हिन्दी गद्य के माध्यम से भी जनजन के लिए उपयोगी बनाया है। निश्चय ही वे विषय सामान्य लोगो की रुचि के विषय बन गये है।

वैद्य कासलीवालजी जिस किसी भी ग्राम, नगर या मन्दिर मे प्रवास करते है, वहाँ धर्म कथन, तत्व चर्चा आदि विभिन्न प्रसग चलते ही रहते हैं उन अवसरो मे समागत जन जिज्ञासा-शान्ति, ज्ञानलाभ तथा जीवन सम्बल के लिए अनेक बहुमूल्य विचार प्राप्त कराते है। इसके अलावा अवशेष समय मे स्वाध्याय चलता रहता है। वे हर समय अध्यात्मिक चर्चाओ के अतिरिक्त दार्शनिक एव गूढ विषयो को जानने की उत्कट अभिलाषा लिये रहते है।

जैन साहित्य गद्य तथा पद्य दोनो ही रूपो मे अपनी ज्ञान स्रोतस्विनी प्रवाहित करता है। लगता है जैन साहित्य मे प्रश्नोत्तर के रूप मे तत्व, धर्म, दर्शन और विज्ञान का प्रकटीकरण करके लेखन के क्षेत्र मे एक विशिष्ट वर्ग का ही प्रादुर्भाव कर दिया है। गहन गम्भीर विषयो को साधारण से साधारण व्यक्ति भी हृदयगम कर सके सम्भवत. इसलिए ही इस नवीन प्रकार को यहा उपस्थित किया है। ऐसे भी जैनो के सम्पूर्ण आगम साहित्य मे सरलता पर अधिकाधिक ध्यान दिया है। कुछ तात्विक तथा दार्शनिक स्थलो पर प्रारम्भ मे कही-कही दुरूहता का आभास भी हो सकता है पर कुछ अभ्यास के पश्चात् वहा भी पाठक को

सरलता और सरसता ही दीख पड़ेगी। जहाँ प्रश्नो का क्रम अपनाया गया है वहाँ तो समतल भूमि पर बहती हुई जलधारा के समान यह क्रम और भी सरल बन गया मालूम होता है।

इन प्रश्नो मे अनेक विषयो पर प्रकाश डाला गया है। उनमे कहीं भाषा की सूक्ष्म गुत्थियो का विश्लेषण है, कही तात्त्विक अन्वेषण परिलक्षित होता है, कही ऐतिहासिकता निखार लेती है तो कही आज के विकासोन्मुख विज्ञान के लिए नवीन सामग्री तथा चुनौती भी उपस्थित होती पाई जाती है।

आत्मानुशीलनम् नामक इस रचना को श्री वैद्य कासलीवाल जी ने दश अधिकारो से सजोया है। ये है—प्रथम—आत्म परिचय अधिकार, द्वितीय-ज्ञाता दृष्टा अधिकार, तृतीय—आस्रव अधिकार, चतुर्थ—संवर अधिकार, पंचम—निर्जरा अधिकार, षष्टम—पुण्य-पाप अधिकार, सप्तम—बन्धाधिकार, अष्टम्—मोक्षाधिकार, नवम—विशिष्ट ज्ञान अधिकार। दशम निष्कर्ष रूप मे है।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप आत्मसात् करने मे तथा अध्यात्म साधना मे आगे बढने मे सभी पाठको के लिए यह रचना विशेष लाभ दायक होगी ऐसी मेरी आशा है। मेरी भावना है कि ये दीर्घायु हो तथा इसी प्रकार आध्यात्मिक, कल्याणकारी साहित्य से लोगो को अपने कल्याण के लिए प्रोत्साहित करते रहे।

डा. प्रेमचन्द्र जैन

जैन अनुशीलन केन्द्र
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।

प्राक्कथन

आत्म ज्ञानी वनने की इच्छा साधुप्रो के समान ही गृहस्थो मे भी होती है। और यदि गृहस्थ आत्म-ज्ञान प्राप्त करले तो वह गृहस्थ होते हुए भी साधु ही है। लेकिन आत्मिक ज्ञान प्राप्त करना सरल नही है, वह पढने लिखने की वस्तु नही है। पचासो ग्रन्थो का स्वाध्याय करने वाला भी आत्म ज्ञान से अछूता देखा जाता है और विना पढा-लिखा भी ज्ञानी वन सकता है। यदि जीव ने स्व पर की भेद दृष्टि प्राप्त करली हो, राग एव ममत्व की परख हो तो वह आत्म ज्ञान प्राप्त करने की दिशा मे एक कदम रखने योग्य वन सकता है, लेकिन इसके लिए वह आत्मानुशीलन करे, आत्म चिन्तव मे उतरे तथा वस्तु एव द्रव्य को जैसा है वैसा ही जानने की शक्ति प्राप्त करे तो यह सव कुछ सम्भव है।

आत्मानुशीलनम् रचना इस दिशा मे महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। इसके रचयिता वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल है, जो विगत कुछ वर्षो से आत्म चिन्तन एव मनन मे लगे हुए हैं, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्त भद्र, अकलक आदि के आध्यात्मिक ग्रन्थो का पारायण करके उनमे रम जाने का सतत् प्रयास कर रहे हैं। प्रवचनसार, पचास्तिकाय एव महान् ग्रथ समयसार का आपने पद्यानुवाद भी किया है, अत. प्रस्तुत आत्मानुशीलन उनके सतत् चिन्तन एव मनन का सुन्दर उपहार है, जो वे पाठको को मुमुक्षुओ को अपनी ओर से दे रहे हैं। पुस्तक का एक-एक शब्द चाहे वह पद्य हो या गद्य हो, उनकी लेखनी से निकला हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक को रचनाकार ने आत्म परिचय अधिकार, ज्ञाता दृष्टा अधिकार, आस्रव अधिकार, सवर अधिकार, निर्जरा अधिकार, पुण्य-पाप अधिकार, वन्ध अधिकार, मोक्ष अधिकार एव विशिष्ट ज्ञानाधिकार नौ अधिकारो मे विभक्त किया है तथा दशम निष्कर्ष रूप मे है। इस प्रकार नाम से नही उनके अधिकारो एव उनमे वर्णित सामग्री से भी यह कृति आत्मानुशीलन जैसे नाम की यथार्थता प्रकट करने वाली है। आत्म तत्व को प्राप्त करने का उपाय बतलाते हुए लिखते है—

जगत वस्तु से निर्मम बनकर आत्म तत्व जो ध्याता है।
आत्म स्थिति के हो जाने से आत्म तत्व वह पाता है ॥१६३॥

और जब यह मानव आत्म तत्व को जान लेता है तो वह आत्म स्थित होकर कर्मो के जाल से छुटकारा पाकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

आत्म स्थिति से कर्मों का आना ,निश्चित रुक जाता है।
कर्मों के रुक जाने से नोकर्म रोध हो जाता है।
कर्म और नोकर्म रोक संसार रोध कर पाता है।
संसार रोध हो जाने पर यह जीव मुक्ति को पाता है ॥१६५॥

पुण्य और पाप के प्रश्न पर भी रचनाकार ने अपनी कृति मे पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके अनुसार आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये सभी उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्रमय होने चाहिये । व्रत, तप, दया, ज्ञान, स्वाध्याय वगैरह पुण्यास्रव के कारण है, लेकिन परम्परा मे मोक्ष के कारण बन सकते हैं। वे वर्तमान मे मधुर फल के समान हैं।

यद्यपि आत्मज्ञान होने तक सब चेष्टा बन्धन कारी।
तदपि दान दया अरु भक्ति कर अवश्य बन उपकारी॥
जो अमृतफल प्राप्त न हो तो अन्य मधुर फल ही खावे।
दोनों ही यदि नहीं मिले तो भी विषफल को न खावे॥

इस प्रकार इस आत्मानुशीलन रचना मे, विषय को स्पष्ट करके समझाया गया है। इस पुस्तक मे सात-सौ पद्य है जिनको गद्य मे भी स्पष्ट कर टीकाकार का कार्य किया है। पुस्तक की भाषा एव शैली दोनो आकर्षक है, तथा स्वाध्यायी स्वभाव वाले पाठक को सहज मे ही आकृष्ट करने वाली है।

एक ही विद्वान मे गद्य और पद्य लिखने की आदत नही होती लेकिन वैद्यजी इसमे अपवाद है और यह गति उन्हे ४-५ वर्षो मे ही प्राप्त हुई है जो अत्यधिक प्रशसनीय है तथा आश्चर्यकारी है। पुस्तक रचनाकार इसी प्रकार पाठको को अपनी अनुभूति पूर्ण रचनाये देते रहे हमारी मगल कामना है। ऐसी उपयोगी पुस्तक का हम स्वागत करते हैं।

अमृतकलश, बरकत नगर
किसान मार्ग, जयपुर
२७-१२-८५

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

❋ आत्मानुशीलनम् एक ज्ञान स्रोत ❋

आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ को समाज सेवा मे जन साधारण के आत्मा सम्बन्धी ज्ञान हेतु अर्पित कर मैं प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ। यद्यपि ज्ञान प्राप्त करने वालो के लिए समाज मे ग्रन्थो की कमी नही है। समय-सार प्रवचनसार पचास्तिकाय रत्न करड श्रावकाचार श्लोकवार्तिक राज-वार्तिक आप्त मीमासा अष्ट सहस्री जैसे महान् ग्रन्थ मौजूद है। सम्पूर्ण ज्ञान के स्रोत षट्खडागम, महाबन्ध, कषाय पाहुड जैसे महान् ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है। इन ग्रन्थो मे जिनकी गहरी रुचि होती है वे ही इनका अमृत पान कर अपने जीवन को सफल कर पाते हैं। इन ग्रन्थो का स्वाध्याय कर प० टोडरमल जी कृत मोक्ष मार्ग प्रकाश एव प० बनारसीदास जी कृत समयसार नाटक को पढकर मेरे ऐसे भाव जागृत हुए कि सरल से सरल हिन्दी भाषा मे आत्मा सम्बन्धी रचना की आवश्यकता है, ताकि द्रव्यानुयोग के प्रथम विद्यार्थी भी तत्व को समझ सके तथा आत्मा को शुद्ध बना सके। अत भाव जागृति होती गई और रचना होती गई। वस्तुस्थिति तो यह है कि मैं स्वय भी इस बात को नही जानता कि मेरे निमित्त से यह रचना क्यो हुई और इसका कितना सदुपयोग होगा? जिस कार्य को होना होता है वह कार्य अवश्य होता है और उसके लिये निमित्त कारण भी मिल जाते है। मैं भी इस रचना का एक निमित्त ही हूँ।

रचना मे आगम के अनुसार भावो को व्यक्त किया गया है। इसमे नव अधिकार हैं। जो नाम के अनुसार तत्व ज्ञान से ओत प्रोत हैं।

प्रथम—आत्म परिचय अधिकार मे आत्मा एक द्रव्य है, उसके गुण और स्वभाव का परिचय कराया गया है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य अपने गुण एव स्वभाव का ही स्वामी होता है, तथा स्वभाव व गुणानुसार जो उसके कार्य होते हैं, वे ही श्रेष्ठ होते हैं।

द्वितीय—ज्ञाता दृष्टा अधिकार है। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है। इसका ज्ञान सबसे अधिक आवश्यक है। जिसको द्रव्य का स्वभाव व

गुण ज्ञान हो जाता है वही उसको प्राप्त कर सकता है। हीरे का पारखी ही हीरे का उपयोग कर सकता है, लाभ उठा सकता है।

तृतीय—आस्रव अधिकार है। यह आत्मा मिथ्यात्व कषाय अविरति और योग के कारण कर्मों का आस्रव करता है अर्थात् कर्मों को बुलाता है। अत यह समझाया गया है कि आस्रव कौन है और क्यो हैं तथा उनको निज आत्मा से भिन्न समझ कर और आचरण कर कर्मो का आना रोका जा सकता है।

चतुर्थ—सवर अधिकार है—कर्मों का आना किस प्रकार रोका जा सकता है, आत्मा का कर्म भार न बढने दिया जावे ताकि पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा होने पर मोक्ष मिल सके।

पंचम—निर्जरा अधिकार है। सवर हो जाने पर सम्यक् चारित्र का पालन कर कर्मो की किस प्रकार निर्जरा होती है यह समझाया गया है।

षष्ठ—पाप पुण्य अधिकार है, क्योकि पाप पुण्य के रहस्य को समझे बिना मुक्ति प्राप्त नही की जा सकती। पाप से अशुभ कर्मो का बन्ध और पुण्य से शुभ कर्मो का बन्ध होता है। दोनो ही बन्धनकारी है, अत. इन दोनो से ऊपर उठकर शुद्धोपयोग मे लगना आवश्यक है।

सप्तम—बन्ध अधिकार है, कर्मो का बन्ध आत्मा के अज्ञान के कारण से होता है, अज्ञान से मोह और मोह से बन्धन होता है। जब तक बन्ध के कारण को न समझेंगे तब तक उससे छुटकारा भी नही मिल सकता।

अष्टम—मोक्ष अधिकार है। कर्मो का सवर कर जो निर्जरा कर देता है वह कर्मो से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है और इस तरह पूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

नवम—विशिष्ट ज्ञानाधिकार है। इस अधिकार मे रहस्यपूर्ण प्रश्नो का उत्तर दिया गया है। क्योकि यदि तत्व ज्ञान मे थोड़ी भी शंका रह जाती है तो सम्यग्दर्शन होने मे बाधा रहती है। अतः सभी प्रश्नो को बहुत सरल तरीके से समझाया गया है।

दशम—दशम अधिकार मे ग्रन्थ के सार रूप मे कुछ ऐसे प्रश्नोत्तर है जिससे आत्मा और कर्मबन्धन तथा उससे मुक्त होने का प्रकार सभी मुमुक्ष बन्धुओ के समक्ष मे आ जावे।

इस पुस्तक को मानव मात्र के हित के लिये मैं समर्पित करता हूँ। तथा भगवान महावीर का पुन स्मरण करता हूँ, जिनके बतलाये हुए मार्ग पर चल कर मैं स्व हित कर सकू तथा पर हित तो जिसकी भवितव्यता हितकारक होगी उसी का हो सकेगा।

धन्यवाद ज्ञापन—

मैं इस ग्रन्थ के परम सहयोगी डॉ प्रेमचन्द जी जैन को धन्यवाद देता हूँ कि वे प्रत्येक क्षेत्र मे मेरा सहयोग करते है, तथा सदा ही प्रेरणा देकर मेरा उत्साह बढाते हैं।

डॉक्टर कस्तूरचन्द जी कासलीवाल के प्रति आभार प्रकट करता हू, जो हमेशा ही मेरे प्रेरणा स्रोत रहे हैं।

श्री चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय का मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जो नित्य प्रति की चर्चाओ से मेरा मार्ग प्रदर्शन करते रहते है।

श्री लेखचन्द जी बाकलीवाल का मैं अत्यन्त आभारी हूँ। जिनके आर्थिक सहयोग से इस रचना का प्रकाशन हो सका है। तथा जिनकी तत्व रुचि के कारण इस रचना का निर्माण हुआ है।

ए–२८, जनता कालोनी
जयपुर, ३०२००४
दिनाक–१ जनवरी, १९८६

वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल

दो शब्द

वैद्य प्रभुदयाल जी कासलीवाल जिन्होने आयुर्वेद चिकित्सा के कार्य मे एक अच्छा नाम किया है, करीब पाँच वर्ष से आध्यात्मिक क्षेत्र मे कार्य कर रहे है। उनका मुख्य उद्देश्य निज आत्मा का उद्धार करना है, लेकिन स्व उपकार मे पर उपकार निहित है। आपने आत्मविनिश्चयम् नाम की पुस्तक लिखी है जिसमे जन साधारण को आत्मबोध होने का बहुत ही सरल भाषा मे उपाय बतलाया है। आपने समयसार, प्रवचन-सार, पचास्तिकाय का हिन्दी भाषा मे पद्यानुवाद किया है।

वैद्य प्रभुदयालजी के यहाँ मेरा आना जाना बराबर रहता है। करीब एक वर्ष पूर्व मैने उनसे निवेदन किया था कि वे सरल भाषा मे जैन तत्वज्ञान कराने हेतु किसी रचना का निर्माण करे। उन्होने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर इस आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ की रचना की है। मैं इसके लिये उनको हार्दिक बधाई देता हू। मैं आशा करता हू कि वे ऐसी रचनाओ का निर्माण अवश्य करते रहेगे जिससे समाज के कम पढे लिखे भाई बहनो का भी ज्ञान वर्धन हो और तत्वज्ञान की प्राप्ति हो।

लेखचन्द बाकलीवाल

३०, हरीश मुखर्जी रोड
कलकत्ता-२५
३१-१२-८५

श्री लेखचन्दजी बाकलीवाल

राजस्थान राज्य की राजधानी जयपुर नगर के घी वालो के रास्ते मे श्री गप्पूलालजी बाकलीवाल एव उनकी धर्म पत्नि भवरदेवी जी के निमित्त से श्री लेखचन्दजी का जन्म सम्वत् १९८५ की सूर्य सप्तमी को हुआ। आपके पिता श्री गप्पूलालजी धर्म प्रेमी एव निष्कपट थे। वे थोड़े धन मे ही सन्तोष कर जीवन-यापन करते थे। आपके माताजी श्री भवर देवीजी जयपुर के प्रसिद्ध जागीरदार श्री जयकुमारजी दीवान की पुत्री हैं। राजकुमारजी दीवान मास्टर मोतीलाल पुस्तकालय के सेक्रेटरी आपके लघु भ्राता है। आप धार्मिक जीवन से ओत-प्रोत घर मे पूर्ण वैभव के होने पर भी सादा जीवन व्यतीत करती है। आपकी बोलचाल मे माधुर्य है तथा अतिथि सत्कार कर प्रसन्न होने वाली है। आपकी आयु बहत्तर वर्ष की है।

श्री गप्पूलालजी व्यापार द्वारा अर्थ उपार्जन हेतु कराची सिन्ध मे रहते थे, अत आपका लालन-पालन व शिक्षा श्री जयकुमार जी दीवान के यहा हुई। आप बी.काम., एल. एल. बी. है। शिक्षा की समाप्ति पर आप राजस्थान सरकार के खनिज विभाग मे नियुक्त हुए, लेकिन राज्य सेवा मे रह कर आप सन्तुष्ट नही थे। अत.तीन वर्ष के अल्प समय मे ही राज्य सेवा छोडकर फिल्म इण्डस्ट्री मे चले गये और शीघ्र ही निजी कारोबार प्रारम्भ कर दिया। वर्तमान मे आप कलकत्ते मे महावीर फिल्म्स, प्रकाश पिक्चर्स एव अजय मोवीज के मालिक हैं तथा जयपुर मे ललित फिल्म भी आपका ही सस्थान है।

आपका विवाह ललिता देवी लालचन्द जी कोठारी की पुत्री के साथ हुआ। आपके दो पुत्र एव दो पुत्रिया है। पुत्रो के नाम लेख

प्रकाश (विल्लू), अजय (वब्बल) है। पुत्रिया शशि एव पुष्पा है। शशि का विवाह सुरेश कुमार सेठी कलकत्ता के साथ एव पुष्पा का विवाह राजकुमार जी छाबडा हजारीबाग के साथ सम्पन्न हुआ है। लेख प्रकाश का विवाह श्री हीरालालजी सेठी की पुत्री रागिनी के साथ एव अजय का विवाह श्री चन्द्रकुमार जी फिरोजाबाद वालो की पुत्री अन्जु के साथ हुआ है।

आपने सरस्वती ग्रन्थमाला के अध्यक्ष बनने की स्वीकृति प्रदान की है। आपने इस आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ-छपाई मे पूर्ण सहयोग दिया है। आपने इस ग्रन्थ का प्रकाशन अपने स्वर्गीय पिता श्री गप्पूलालजी की स्मृति मे करवाया है। आप सामाजिक सेवाभावी है, इसी विचार से इन्होने लाइन्स क्लब मे प्रेसीडेन्ड एव सेक्रेटरी के पदो पर रहकर समाज की सेवा की है। व्यावसायिक क्षेत्र मे भी इनका प्रभाव व अच्छा नाम है। आप ईस्टर्न इन्डिया मोशन पिक्चर्स असोसियेशन मे डिस्ट्रीब्यूटर्स सेक्शन के चेयरमेन है। आपको लाइन्स इन्टर नेशनल ने आपकी सेवाओ को देखकर सेन्ट परसेन्ट प्रेसीडेन्ट अवार्ड दिया है। आप सेवा भाव तथा धार्मिक रुचि हेतु बधाई के पात्र है।

सरस्वती देवी कासलीवाल
उपाध्यक्षा
सरस्वती ग्रन्थमाला

ए-२८
जनता कालोनी
जयपुर-३०२००४

जन योगी स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी का आशीर्वाद

श्री वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल द्वारा रचित आत्मानुशीलनम् नाम का ग्रन्थ अद्भुत शैली से लिखा हुआ एक आत्म शास्त्र है। इसमे दश अधिकार है। ससारी जीव का मोक्ष मार्ग मे लगकर ससार बन्धन किस प्रकार छूट सकता है, यह एक अद्भुत ज्ञान मार्ग से ही संभव है। वैद्य जी ने चिन्तन और मननपूर्वक इस ग्रन्थ की रचना की है, यह इनका अद्भुत स्तुत्य प्रयास है। मेरी इच्छा है कि इस ग्रन्थ का सभी जैन भाई स्वाध्याय करे। जो इसका स्वाध्याय करेगा वह अवश्य मोक्ष मार्ग पर चल सकेगा। मैं वैद्यजी के इस प्रयत्न की सराहना करता हुआ उन्हे आशीर्वाद देता हूँ।

इति शुभम्।

स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी
श्री दिगम्बर जैन मठ
मूडबिदरी–५७४२२७ (जिला–डी. के.)
कर्नाटक

आत्मानुशीलनम् उपयोगी एवं पठनीय

जैन दर्शन के अनुसार जीव अर्थात् आत्मा और अजीव अर्थात् भौतिक प्रकृति, दोनो अनादि तथा अनन्त है। इनका कोई कर्त्ता और नियन्ता नही। जगम तथा स्थावर प्राणियो मे असख्य आत्माएँ है जो अपने-अपने कर्म-बधनो के अनुसार विभिन्न योनियो मे जन्म लेती रहती है। ये अजर-अमर आत्माएँ शारीरिक जन्म-मरण के चक्र मे तब तक फसी रहती है, जब तक उनका मोक्ष नही होता। यह मोक्ष ही आत्मा का अन्तिम लक्ष्य और उद्देश्य है। इस उद्देश्य को वैदिक और श्रमण परम्पराएँ दोनो स्वीकार करती हैं।

जैन आगमो मे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष धर्म कहा गया है। इनकी साधना के बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। इनकी साधना के लिए जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन सात तत्वो का ज्ञान आवश्यक है। इसके अलावा पुण्य और पाप के भेदो तथा परिणामो का ज्ञान भी होना चाहिए।

इन नौ तत्वो का ज्ञान होने पर मनुष्य को आत्म-तत्त्व का बोध होता है, अर्थात वह जान लेता है कि मैं अजर-अमर, शुद्ध-बुद्ध, निराकार-निर्विकार आत्मा हू। मैं कर्मो का केवल ज्ञाता-दृष्टा हू। तब वह अपनी आत्मा का शुद्ध रूप पहचानने के लिए आत्म-चिन्तन करता है। इस आत्म-चिन्तन से उसके राग-द्वेष आदि सारे विकल्प छूट जाते है और सारे कर्म-बन्धन नष्ट हो जाते हैं। पूर्ण आत्म-ज्ञान होते ही जीव को कैवल्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

आत्म-साधना का यह मार्ग बहुत दुस्तर है और अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मनुष्य को अनेक सीढिया पार करनी पडती है। जैन आगमो मे इनका विस्तार-पूर्वक वर्णन है। परन्तु आगम-साहित्य इतना विशाल है, उसकी भाषा इतनी गहन और गूढ है और उसमे इतने दार्शनिक विवेचन हैं कि साधारण मनुष्य के लिए न तो उनका अध्ययन सभव है और न उसमे गूढ तत्वो को समझने की शक्ति होती है।

इन बातो को ध्यान मे रखकर इस पुस्तक के रचयिता वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल ने गद्य-पद्य-मय सरल और सुबोध भाषा मे आत्म-साधना तथा आत्म-ज्ञान के उपायो की शास्त्रोक्त व्याख्या की है। इस व्याख्या के पीछे उनकी अपनी साधना तथा अपना चिन्तन-मनन है। इनके विना गूढ तत्वो का सम्यक् दर्शन और ज्ञान नही हो सकता।

आत्मा के इन गुणो और स्वभावो को वैदिक परम्परा भी स्वीकार करती है। इस दृष्टि से आत्म-ज्ञान तथा ब्रह्म-ज्ञान शब्द पर्यायवाची हो जाते है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश दिया है—

आत्मा वा अरे दृष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो।
मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्व विदितम् ॥

हे मैत्रेयी आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने तथा निरतर चिन्तन करने योग्य है। जब आत्मा को देख लिया जाता है, सुन लिया जाता है तथा जान लिया जाता है, तब सब कुछ जान लिया जाता है।

तात्पर्य यह है कि जब जीव को यह केवल-ज्ञान हो जाता है कि मै आत्मा हूं, तब उसे जानने को कुछ शेष नही रहता और वह जन्म-मरण के बधन से मुक्त हो जाता है।

आज बहुसख्यक जन-समुदाय राग-द्वेष का शिकार होकर क्रोध-मान-माया-लोभ व्यामोह मे फँसा हुआ है। जिज्ञासुओ तथा मुमुक्षुओ की सख्या बहुत कम है। ऐसी अवस्था मे लोगो को इस ओर प्रेरित करने की महती आवश्यकता है और यह काम इस प्रकार की उद्‌बोधक पुस्तको से ही सभव हो सकता है।

मैं समझता हू कि वैद्य प्रभुदयाल की यह पुस्तक इस दृष्टि से पठनीय, मननीय तथा उपादेय है। केवल जैन मतावलम्बी ही नही, बल्कि अन्य भारतीय सम्प्रदायो के अनुयायी भी इससे लाभ उठा सकते हैं, क्योकि मोक्ष प्राप्ति के बारे मे कोई भी साम्प्रदायिक मतभेद नही, केवल परिभापाएँ अलग-अलग है।

चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय

वैद्य श्री प्रभुदयाल कासलीवाल
ग्रन्थ के रचयिता

श्रीमती सरस्वती देवी कासलीवाल
उपाध्यक्षा
सरस्वती ग्रन्थमाला
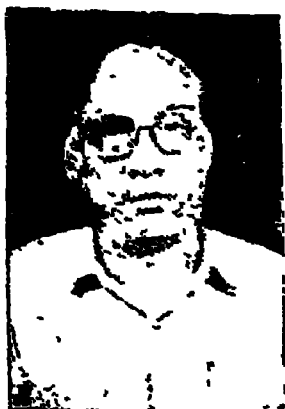
श्री लेखचन्द बाकलीवाल
अध्यक्ष
सरस्वती ग्रन्थमाला

श्रीमती ललितादेवी बाकलीवाल

स्व. श्री गप्पूलालजी बाकलीवाल

श्री भट्टारक चारुकीर्तिजी महाराज
भट्टारक मुडबद्री पीठ

डॉ. प्रेमचन्द जैन
कोषाध्यक्ष, सरस्वती ग्रन्थमाला

विषय-सूची

॥ॐ॥

आत्म परिचय अधिकार ॥१॥

मंगलाचरण

वीर प्रभु को नमस्कार कर सीमन्धर को नमता हूँ।
आत्म दृष्टि से जग-ज्ञाता जो उनको शीश झुकाता हूँ ॥१॥

सर्व प्रथम मगलाचरण करना मागलीक है, क्योकि अपने आदर्श रूप जगत् पूज्य प्रभु को नमस्कार करने से मल का अर्थात् अशुभ कर्मो का नाश होकर पुण्य का बन्ध होता है। अरहन्त और सिद्धो को भक्ति भाव से उनके गुणो को दृष्टि मे रखते हुए नमस्कार करना दूरतर कारी मोक्ष प्राप्ति का कारण माना है।

भरत क्षेत्र मे वर्तमान मे पचम काल चल रहा है। इस समय न तो केवली हैं और न श्रुत केवली हैं। चतुर्थ काल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का ही इस समय शासन काल चल रहा है, उनकी दिव्य ध्वनि के आधार पर गणधरो ने जो सूत्र ज्ञान की वर्षा की उसी के आधार पर धवल जय धवल एव महा धवल आदि ग्रन्थो की धरसेनाचार्य की प्रेरणा से भूतवली और पुष्पदन्त ने रचना की। करणानुयोग का सम्पूर्ण ज्ञान इन ग्रन्थो के आधार पर है।

आज के दो हजार वर्ष पूर्व दक्षिण मे कुन्द कुन्द एक समर्थ आचार्य हुए, उनको अनेक सिद्धिया भी प्राप्त थी। इनके आधार पर शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने हेतु आचार्य प्रभु के विदेह क्षेत्र मे वर्तमान अरिहन्त सीमन्धर भगवान के समवशरण मे जाकर उनकी, दिव्य ध्वनि का लाभ उठाने की जिज्ञासा जागृत हुई। अत वे विदेह क्षेत्र गये और सात दिन तक रहे। सीमन्धर भगवान की दिव्य ध्वनि के आधार पर भरत क्षेत्र मे आकर समय सार, प्रवचन सार आदि अनेक ग्रन्थो की रचना की और मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया।

अत मगलाचरण मे दोनो तीर्थंकरो को नमस्कार कर इस ग्रन्थ के निर्विघ्न समाप्ति की कामना करता हूँ।

आत्मा का स्वरूप ज्ञाता दृष्टा है तथा सत् स्वरूप है—

सत्स्वरूप जो आत्म द्रव्य है, सब जीवों मे रहता है ।
निज स्वरूप कभी ना छोड़े, वह तो ज्ञाता दृष्टा है ॥२॥
तीन रूप व्यवहार ज्ञान से, एक रूप निश्चय से है ।
अन्तर्दृष्टि जगे जब निजकी, वह तो एक रूप ही है ॥३॥

इस संसार मे छह द्रव्य है । जीव अजीव धर्म अधर्म आकाश और काल । इनमे जीव द्रव्य चेतन स्वरूप है, शेष द्रव्य चेतन नही है । एकेन्द्रिय से लेकर पन्चेन्द्रिय तक, निगोदिया जीवो से लेकर देव और मनुष्य सभी चेतन है । द्रव्य सत् स्वरूप होता है । सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त कहा है । जीव द्रव्य पर्यायो मे परिणमन करने के कारण उत्पाद व व्यय से युक्त है क्योकि पर्याय क्षणिक है । गति परिवर्तन भी पर्याय परिवर्तन है । एक जीव देव पर्याय छोडकर मनुष्य पर्याय धारण करता है, अत देव पर्याय का नाश व मनुष्य पर्याय की उत्पत्ति होती है । लेकिन दोनो पर्यायो मे जीव तो वही रहता है, अत जीव पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व नाश युक्त है तथा जीवत्व की अपेक्षा ध्रुव है । और उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य स्वरूप के कारण जीव सत् है ।

अनन्त पर्याये धारण करने पर भी जीव अपने चेतन स्वरूप को नही छोडता है । जीव के गुण, ज्ञान व दर्शन है, अर्थात् जीव जानने व देखने वाला है । अत जीव को ज्ञाता दृष्टा कहते है ।

जीव के तीन रूप सिद्ध हुए । एक नष्ट होने वाला, एक उत्पन्न होने वाला तथा एक ध्रुव रहने वाला । ये तीनो व्यवहार नय से हैं पर्याय की अपेक्षा है, निश्चय नय से जीव न देव है, न मनुष्य है न नारकी और न तिर्यन्च है । जीव तो जीव ही है और प्रत्येक अवस्था मे अपने ज्ञान, दर्शन, गुण युक्त है ।

जीव मे दर्शन, ज्ञान और चारित्र की तीनअवस्थाऐ होती है । आत्मा जब निज सत् स्वरूप व दर्शन ज्ञान स्वरूप की श्रद्धा करता है वह अवस्था सम्यग्दर्शन कहलाती है । श्रद्धा के साथ निज का ज्ञान होता है, वह सम्यग्-ज्ञान अवस्था है । ज्ञान होने के बाद जब जीवनिज मे रमण करता है तथा राग द्वेष मोह आदिक भावो को निज से भिन्न मानता है वह सम्यक् चरित्र अवस्था है । ये तीनो अवस्थाऐ पृथक २ दिखाई देती है, लेकिन आत्म ज्ञान होने के पश्चात जब आत्म स्थिति हो जाती है, अर्थात्

आत्मा आत्मा मे ही रमण करता है तब दर्शन, ज्ञान, चारित्र भेद समाप्त होकर एक आत्मा ही रह जाता है । अत दर्शन ज्ञान व चारित्र भी व्यवहार नय से ही है, निश्चय से तो आत्मा एक ही है । आत्मानुभूति होकर आत्मा का ज्ञान होना ही अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना है ।

यह जीव पर पदार्थों को अज्ञानवश निज मान रहा है तथा स्व को भूल गया है ।

अनादि काल से जीवराज यह पर मे स्थित होने से ।
निज स्वरूप को भूल गया है जगत् भ्रमण करता डोले ॥४॥
काम भोग युत बंध कथा से जग मे सब परिचित अनुभूत ।
उन्हीं कथाओं से विस्मृत हो, भिन्न आत्म स्थिति से रिक्त ॥५॥

जीव और अजीव (कर्मऔरपुद्गल) के साथ २ रहने का क्रम अनादि काल से चला हुआ है । जिस प्रकार स्वर्ण मे खान से निकलने के समय ही अशुद्धि विद्यमान है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल का नाता भी अनादि काल से है । जन्म काल से ही धाय के घर रहने वाला बच्चा जिस प्रकार अपने माता पिता से अपरिचित रहता है, उसी प्रकार यह जीव भी अनादि कालिक कर्म पुद्गल की संगति से निज स्वरूप और गुणो को भूला हुआ है । निज को भूल कर पर पुद्गल को निज मान रहा है तथा पर मे ही आसक्त हो रहा है, पर मे आसक्ति के कारण इसका ससार भ्रमण बना हुआ है ।

पर मे आसक्त होने के कारण काम और भोग सम्बन्धी कथाओ से तो यह जीव परिचित है और उनका अनुभव भी किया है । यह जीव अज्ञानी बनकर काम, भोग आदि की कथाओ मे ही लिप्त हो रहा है तथा निज स्वरूप व गुणो को भूल गया है, अत कर्म पुद्गल मे भिन्न जो निज शुद्ध आत्म स्थिति है उस ज्ञान से रिक्त हो रहा है शुद्ध आत्मा जो ज्ञान और दर्शन गुण के कारण ज्ञाता दृष्टा है वह किसी भी राग, द्वेष, मोह, कषाय और नोकषाय का कर्त्ता नही है । वह केवल अपने ज्ञान रूप परिणमन का ही कर्त्ता है । वह स्वय भी ज्ञान रूप ही है । अत ज्ञान ही कर्त्ता एव ज्ञान ही कर्म है । वह निज गुणो के अतिरिक्त किसी भी पर भाव का कर्त्ता नही है । यह बात पर मे आसक्त अज्ञानी जीव नही समझ रहा है ।

भव्य जनो को आत्मा का वैभव एव शक्ति को जानने का उद्बोधन

भव्य जनो एकत्व विभक्त निज आतम वैभव को जानो।
ज्ञान और दर्शन गुण पूरित निजात्म शक्ति को पहचानो ॥६॥

निर्मल भेद ज्ञान से स्पष्ट भिन्न दिखाई देने वाला आत्मा जो कि सदा प्रकट रूप से अन्तरग मे प्रकाश मान है, अनन्त चतुष्टय के वैभव से सुसज्जित है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख स्वरूप यह आत्मा सदा विद्यमान है, लेकिन जिस प्रकार अग्नि के सयोग से जल का शीतल स्वभाव ढक जाता है और अग्नि सयोग पृथक् हो जाने पर पुन. प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के कारण आत्मा का अनन्त चतुष्टय स्वरूप ढका हुआ है, तथा मोहनीय कर्म के पृथक् हो जाने पर पुन प्रकट हो जाता है।

इस रहस्य को समझने की आवश्यकता है, कि आत्मा का स्वरूप अनन्त चतुष्टय स्वरूप है। अनन्त चतुष्टय ही आत्मा का वैभव है। निज आत्म वैभव को और अपनी अनन्त शक्ति को पहचानना आवश्यक है।

निश्चय नय और व्यवहार नय दोनो का ज्ञान आवश्यक है —

निश्चय अरु व्यवहार दो नय हैं, निश्चय से सद् दृष्टि मिले।
निश्चय शुद्ध ज्ञान आश्रित है, निश्चय से पथ मोक्ष मिले ॥७॥
नय व्यवहार तो मन्द बुद्धि को समझाने हित होता है।
बिन व्यवहार सत्य ना समझे उभय ज्ञान आवश्यक है ॥८॥

निश्चय और व्यवहार दो नय के भेद है। इन दोनो नयो का स्वरूप समझना आवश्यक है। व्यवहार नय से देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यन्च पर्यायो मे भ्रमण करता हुआ यह आत्मा अज्ञानी हो रहा है, सुख दुख का भोक्ता है तथा क्रोधादिक कषायो एव नो कषायो का कर्त्ता है।

निश्चय नय से यह आत्मा सिर्फ ज्ञान दर्शन रूप परिणमन करता है तथा क्रोधादिक सभी विभावो से पृथक् है। राग, द्वेष, मोह और इनके जनक कारणो से पृथक् है। जिस प्रकार ताम्र, रजत, पीतल आदि विकृतियो से सयुक्त होने पर भी स्वर्ण विकृतियो से पृथक् है उसी तरह कर्म विकृतियो के साथ रहने पर भी आत्मा पृथक् है। जिस प्रकार ताम्र, रजत आदि विकृतियो का भेद ज्ञानी न्यारिया शुद्ध-स्वर्ण को पृथक् कर लेता है उसी प्रकार शुद्ध आत्मा और विकृतियो का भेद ज्ञानी आत्मा को विकृतियो से पृथक कर लेता है।

अत निश्चय नय से शुद्ध आत्म द्रव्य को तथा व्यवहार नय से कर्मो से बद्ध आत्मा को समझना आवश्यक है। जो विकृति और विकृत द्रव्य दोनो को जानेगा वह विकृति को दूर कर सकेगा तथा विकृतियो को दूर कर निर्वाण प्राप्त कर सकेगा।

मन्द बुद्धि अज्ञानी प्राणियो को सत्य स्वरूप समझाने के लिये व्यवहार नय का आश्रय लेना आवश्यक है। जिस प्रकार शुद्ध स्वर्ण का ज्ञान कराने के लिये शुद्ध स्वर्ण और अशुद्ध स्वर्ण दोनो का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार आत्मा का शुद्ध स्वरूप जानने के लिये कर्म से बद्ध और बद्ध होते हुए भी अबद्ध किस प्रकार है यह समझना आवश्यक है।

यथा व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रित खलु सम्यग्दृष्टि र्भवति जीवः ॥

समय सार गाथा —११

सात तत्वो का निश्चय नय से ज्ञान होना आवश्यक है—

सात तत्व जिनने बतलाये, मोक्ष प्राप्ति हित उन्हें कहे।
तत्व ज्ञान भी निश्चय नय से, जो जाने समकित है रे ॥९॥

संसार भ्रमण करता यह प्राणी, कर्म बन्ध मे फंसा हुआ।
तत्व ज्ञान नहीं होने से, बन्ध भेद ना समझ रहा ॥१०॥

जिन देव भगवान ने सात तत्व बतलाये है। जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इन सातो तत्वो का अर्थ समझ कर जो दृढ श्रद्धान करता है उसको सम्यग्दृष्टि कहा है। सम्यग्दृष्टि जीव अर्ध पुद्गल परावर्तन काल से अधिक ससार मे नही रहता। वह जीव अर्ध पुद्गल परावर्तन काल से पूर्व किसी भी समय अथवा इस काल की समाप्ति पर अवश्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अत इन सात तत्वो के अर्थ ठीक तरह समझ लेना चाहिये, ताकि किसी प्रकार की शका न रहे और श्रद्धान हो जावे। इन तत्वो का इनके पृथक् पृथक् अधिकार मे विस्तार से वर्णन किया जावेगा।

शुद्ध आत्मा इन सभी तत्वो से पृथक् है। इसको उदाहरण द्वारा समझिये—

शुद्ध स्वर्ण	शुद्ध आत्मा
ताम्र लौहादिक विकृतियो का आना यह स्वर्ण का आस्रव तत्व है।	राग द्वेष मोहादिक विकृतियो मे निज बुद्धि होने से उन रूप होना आत्मा के लिये आस्रव तत्व है।
इन विकृतियो का आने से रुकना सवर तत्व है विकृतियो का पृथक् होना निर्जरा तत्व है	राग द्वेषादिक विकृतियो की उत्पत्ति का न होना सवर है। पूर्व मे पैदा हुए राग द्वेषादिक विकृतियो का जो जमाव हुआ था उसका पृथक् हो जाना निर्जरा है।
विकृतियो का शुद्ध स्वर्ण के साथ बध जाना बन्ध तत्व है।	राग द्वेषादिक विकृतियो का आत्म प्रदेशो के साथ जमाव होना बन्ध तत्व है।
विकृतियो के पृथक् हो जाने पर शुद्ध स्वर्ण का अपने स्वरूप मे आना स्वर्ण का मोक्ष है।	राग द्वेषादिक विकृतियो के कारण जो कर्म और नो कर्म रूप जमाव था उसकी समाप्ति के फल स्वरूप जो जीव की स्थिति बनती है वह मोक्ष है।

स्वर्ण का मोक्ष—

१. स्वर्ण-शुद्ध सौटिन्च स्वर्ण का नाम है।

२. ताम्र, रजत लौहादिक के कण स्वर्ण के कणो के साथ रहते है फिर भी स्वर्ण कणो व स्वर्ण के स्वर्णत्व को न तो छूते है और न उनको मलिन करते है। जब लौहादिक विकृतियाँ स्वर्ण कण व स्वर्णत्व को छूते भी नही हैं तब स्वर्ण का विकृतियो के साथ बन्धन होने का प्रश्न ही नही है। न्यारिया अर्थात् स्वर्ण और लौहादिक विकृतियो का भेद ज्ञानी स्वर्ण और लौहादिक विकृतियो को पृथक् कर देता है। शुद्ध स्वर्ण पृथक् हो गया। अर्थात् विकृतियो से छूट गया। स्वर्ण की मोक्ष हो गयी जिसके फल स्वरूप स्वर्ण के पीतता चमक भारीपन वगैरह गुण पुन प्रकट हो गये और पूर्ण रूप मे दिखाई देने लगे।

लेकिन जब स्वर्ण और विकृतियो का बन्धन हुआ नही था तो मोक्ष कहना व्यवहार है, इसी प्रकार स्वर्ण धातु के लिये आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष सब व्यवहार से ही कहा गया। निश्चय से तो किसी भी तत्व ने स्वर्ण को नही छूआ।

इसी प्रकार आत्मा के साथ पौद्गलिक कर्मों की स्थिति है। पौद्गलिक कर्म आत्मा के साथ अनादि काल से रह रहे हैं। लेकिन न तो वे आत्मा का स्पर्श करते है और न बन्धन करते है। जब बन्धन ही नही होता तो संवर, निर्जरा और मोक्ष सभी तत्व व्यवहार मात्र है। अज्ञानी आत्मा को भेद ज्ञान न होने के कारण वह अपने आपको बन्धन युक्त मानता है। अत अज्ञान ही ससार भ्रमण का मुख्य कारण है।

यह आत्मा वस्तुत बन्धन युक्त अज्ञान के कारण है।
निश्चय से तो यह आत्मा बंधा नहीं कर्मों से है।
नित्य निरंजन निराकार है भिन्न अभिन्न पर्यायी है ॥११॥

इन भावों के ज्ञान सहित जब निज अनुभूति करता है।
जिन शासन का मर्म समझकर शुद्धातम बन जाता है ॥१२॥

यह आत्मा कर्मो के साथ न तो बधा हुआ है और न कर्मो से स्पर्शित है। आत्मा नित्य है, अनन्त भवो को भोगने पर भी उसके सत् स्वरूप मे कोई अन्तर नही आया, उसका अनन्त चतुष्टय वैभव अक्षुण्ण है। आत्मा अपने गुणो से पूर्ण है उसको पर के एक कण की भी आवश्यकता नही है और न पर का कोई कण उसका हो सकता है। आत्मा का कोई आकार नही है पर्यायो के अनुसार उसका आकार बदलता रहता है। चीटी के शरीर मे चीटी का आकार और हाथी के शरीर मे हाथी के आकार वाला होता है। अनन्त पर्यायो मे रह कर भी अपने नित्य अविनाशी द्रव्य स्वरूप को कभी नही छोडता। वह पर्यायो से कथान्चित भिन्न और कथान्चित अभिन्न है।

हे आत्मन् तू अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जान कर उसी मे लीन होजा, ज्ञाता दृष्टा रूप मे ही निज अनुभूति कर कर्त्ता कर्म भाव जो मिथ्यात्व है उसका तत्काल त्याग कर, कर्त्ता कर्म भाव से अपने आपको मुक्त करने पर शुद्ध आत्मा बन जायेगा। कर्त्ता कर्म भाव राग का निमित्त है और राग के कारण ही आत्मा ससार से चिपका हुआ है यह ससार से चिपकना ही बन्धन है और कोई बन्धन नही है। अत तू अपने शुद्ध स्वरूप की अनुभूति कर उसी मे लीन होजा यही जिन शासन का मर्म है।

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम्।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥

समयसार ॥१४॥ गाथा

पर्यय वियुतं द्रव्यं द्रव्य वियुक्ताश्च पर्याया न सन्ति ।
द्वयोरनन्य भूतं भावं श्रमणाः प्रकृपयन्ति ॥

पंचास्तिकाय —१२

आत्मा जब पर भावों से भिन्न अपने सत् स्वरूप की श्रद्धा कर उसमे लीन होता है तब वह मोक्ष अवस्था को प्राप्त करता है ।

शुद्ध आत्म की पवित्र श्रद्धा पूर्ण रूपता यदि पावे ।
शुद्धात्मा का ध्यान बने और विकल्प सारे नश जावे ॥१३॥
मै शुद्धातम भिन्न अन्य से यह भी एक विकल्प कहा ।
शुद्धातम के विकल्प नहीं है शुद्धातम निज में रहता ॥१४॥
जो प्राणी शुद्धातम ध्यावे शुद्धातम में वास करे ।
उसके कर्म सभी कट जावे वह ना जग मे वास करे ॥१५॥

आत्मा एक अरूपी, सत् स्वरूप, अविनाशी, ज्ञान और दर्शन मय द्रव्य है । आत्मा का स्वरूप ज्ञाता, दृष्टा है । आत्मा पर द्रव्य और पर भावो से पृथक् है । आत्मा के शुद्ध स्वभाव मे नर नारकादि पर्यायें, बाल वृद्धादि अवस्थाये नही है । आत्मा के शुद्ध स्वभाव मे अनन्त चतुष्टय विद्यमान है । जो ज्ञाता दृष्टा होता है वह कर्त्ता नही होता । वह न किसी का कर्त्ता है और न किसी का कर्म है । आत्मा ज्ञान का परि-णमन करता है अत वह ज्ञान भाव का कर्त्ता है और ज्ञान ही उसका कर्म है । आत्मा के सपूर्ण प्रदेश ज्ञानमय है अत. आत्मा ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है ।

इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का ज्ञान उसके गुणो का ज्ञान एवं उसके ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जान कर जो उस पर पूर्ण श्रद्धा करता है, उसी का चिन्तन उसी मे रमण करता है उसके राग द्वेषमय सम्पूर्ण विकल्प छूट जाते है । विकल्प तो विकल्प ही है, विकल्प राग को उत्पन्न करता है, अत मैं एक शुद्ध आत्म द्रव्य हूं यह भी विकल्प है । शुद्ध आत्मा जब निज मे रमण करता है तब किसी भी तरह का विकल्प नही रहता ।

जो जीव निज शुद्धात्मा मे वास करता है उसके सभी कर्म कट जाते है और ससार से छूट कर सिद्ध बन कर लोकान्त मे वास करता है ।

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी ।
र्यद्यंतः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ॥

आत्माऽत्मानुभवैक गम्य महिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रु वं ।
नित्यं कर्म कलंक पंक विकलो देवः स्वयं शास्वतः ॥

समय सार कलश श्लोक १२

आत्मनुभूतिरिति शुद्ध नयात्मिका या,
ज्ञानानुभूति रियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मात्मात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप,
मेकोस्ति नित्यमववोध घनः समंतात् ॥

श्लोक १३

आत्म स्थित ज्ञानी भी विकल्प के कारण कर्म वन्ध करते हैं–

जीव यह जब तनिक मात्र भी विकल्प कोई करता है ।
वह विकल्प ही कर्म वर्गणा को आमन्त्रित करता है ॥१६॥
कर्म वर्गणा तव निमित्त वन कर्मरूप परिणमती है ।
निर्विकल्पमय आत्म स्थिति संकट दूर हटाती है ॥१७॥

आत्मा ज्ञायक है, जब वह अपने आप मे रमण करता है तब उसको किसी भी तरह का विकल्प नही रहता, उसको पर का व निज का किन्चित मात्र भी विकल्प उसकी निज रमणता मे बाधा उपस्थित करता है। निज रमणता मे वाधा के भावो से कर्म वर्गणाओं के द्वारा कर्म वन्ध का कारण वन जाता है।

विकल्प स्वय पुद्गल है और वही कर्म वर्गणा बुलाता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि के सामने सूक्ष्म से सूक्ष्म भी कोई वस्तु आ जाती है तो वह वस्तु स्फटिक मणि के दिव्य रूप में दिखाई देकर उसके उतने ही अश को आवृत करती है, उसी प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म विकल्प भी ज्ञान के आवरण का कारण वन जाता है, वह आवरण ही कर्म वन्धन है।

जब पाचों पाण्डव तपस्या कर रहे थे तब नकुल और सहदेव के मन मे, युधिष्ठर गर्म लोहे की वेड़ियो का दु.ख कैसे सहन कर सकेगा यह विकल्प आया, और इस एक विकल्प ने ही उनके मुक्त होने की योग्यता को छीन लिया वे मुक्ति न प्राप्त कर सर्वार्थ सिद्धि मे गये । अतः निर्विकल्प आत्म स्थिति ही संसार दुख के संकट को दूर कर सकती है।

शुद्ध नय आश्रित प्राणी सम्यक् दृष्टि होते हैं।

अत. शुद्ध नय आश्रित प्राणी सम्यक् दृष्टि होता है।
पर्यायों में द्रव्य दृष्टि रख निज मिथ्यात्व हटाता है ॥१८॥
मक्खन पर जिसकी दृष्टि हो दुग्ध विलोकर प्राप्त करे।
जिसकी दृष्टि दुग्ध दही पर मक्खन उसको कहां मिले ॥१९॥

शुद्ध नय से विचार कर तत्त्व को समझने वाला जीव सम्यक् दृष्टि होता है। क्योंकि वह पर्याय दृष्टि न रखकर द्रव्य दृष्टि रखता है, वह देव मनुष्य तिर्यन्च और नारकी रूप जीवों मे शास्वत आत्म द्रव्य को देखता है। वह समझता है कि पर्याये नाशमान है तथा द्रव्य ध्रुव रूप है। निगोदिया जीव मे भी वह भगवान आत्मा के दर्शन करता है। ऐसा जीव सम्यक् दृष्टि होता है क्योंकि वह समझता है कि भगवान आत्मा का लक्ष्य ही सत्य है। भगवान आत्मा जब स्व और पर का भेद समझ कर अपने आप को अनन्त चतुष्टय से युक्त वैभव वाला समझता है तब उसकी दीन अवस्था समाप्त हो जाती है।

जो व्यक्ति दुग्ध और दही पर अपनी दृष्टि रखता है तथा उनमे रहने वाले मक्खन पर दृष्टि नही रखता है उसको मक्खन का मिलना नही है, लेकिन जो दुग्ध और दही मे रहने वाले मक्खन पर दृष्टि रखता है वह उसको विलोकर प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार जो पर्याय पर ही अपनी दृष्टि रखता है उसको शुद्ध आत्मा को प्राप्ति नही हो सकती लेकिन जो सभी पर्यायों मे शुद्ध आत्मा के दर्शन करता है उसको शुद्ध आत्मा की प्राप्ति अवश्य होती है।

पर पदार्थों में आसक्ति रखना ससार भ्रमण का कारण है—

पर आसक्ति दुख की जड़ है मोह दुख का बीज कहा।
इक कण से भी मोह भाव संसार भ्रमण इच्छा ही कहा ॥२०॥
मोह करे संसार वस्तु से मुक्त भाव फिर कहां रहा।
कर्तृत्व भाव और मोह भाव दोनों मिथ्या का मूल कहा ॥२१॥
अतः मोह और रागादिक से निर्ममत्व भाव छोड़ो।
कर्मों का संवर जिससे हो—मोक्ष महल पथ प्राप्त करो ॥२२॥

जिस व्यक्ति की शुद्ध आत्म दृष्टि नही होती वह पर में आसक्ति रखता है, पर मे ममत्व बुद्धि रख कर उनसे मोह करता है। मोह-दुख का मूल कारण है, क्योंकि जिस किसी भी वस्तु से वह जीव-मोह करता है, उसमें इष्ट कल्पना करता है और उसकी हानि वृद्धि में दुख-सुख का

अनुभव करता है जिस वस्तु से मोह करता है उसको इष्ट एव उससे विपरीत वस्तु से द्वेप करता है। राग द्वेप मोह हो कर्म वन्ध का मुख्य कारण है अत यह जीव कर्म वन्ध युक्त हो कर ससार भ्रमण करता रहता है।

जो सांसारिक वस्तुओ से मोह करता है वह उससे वध जाता है। एक सूई से मोह करने वाला सूई से और पर्वत से मोह करने वाला पर्वत से वधा हुआ है। यह वन्धन ही कर्म वन्धन है, जो वधा हुआ है वह मुक्त नही है, जो मुक्त है वह वधा हुआ नही है। आत्मा ज्ञाता दृष्टा है कर्त्ता नही है यह त्रिकाली सत्य है, फिर भी अज्ञानी जीव पर का कर्त्ता वन जाता है यह किताव मैंने लिखी है, यह मकान मैंने वनाया है। इस तरह की स्वभाव विपरीत चेष्टाये करता है। अत पर वस्तु एव पर भाव मे निज कर्त्तृत्व मानना मिथ्यात्व है इसी प्रकार पर से मोह करना भी मिथ्यात्व है। अत राग द्वेप और मोह को भी पर भाव समझकर निज कर्त्तृत्व वुद्धि का त्याग करो। कर्त्तृत्व वुद्धि छोडने से राग द्वेष पैदा नही होते, राग द्वेप का पैदा न होना ही सवर तत्त्व है। सवर से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आत्मा चेतन द्रव्य है, अत अचेतन कर्म व अन्य पदार्थो से भिन्न है–

कर्म आठ, तन आदिक सारे शुद्ध आत्म से भिन्न सभी।
जो प्राणी यह भेद जान ले, उनके वन्ध हटे सब ही ॥२३॥

त्रिया पुत्र और महल बगीचा, जो निज का ममा करता।
भूत भविष्य कल्पना कर मिथ्या मद मे डूबा करता ॥२४॥

यह ग्राम यह देश है मेरा जो इस विधि चिन्तन करता।
वह सत्य बिल्कुल नहीं जाने जगत् भ्रमण करता रहता ॥२५॥

तन धन अरु धान्यादिक सब ही आत्मा के गुण से हैं हीन।
इसीलिये तेरे ना यह तो यह सत्य है तर्क विहीन ॥२६॥

स्वर्ण स्वर्ण कण मे ही रहता ताम्रदिक मे नही कभी।
चेतन गुण भी चेतन मे है, नही अजीवादिक में भी ॥२७॥

स्वर्ण परिणति गुणानुसारी, आत्म परिणती भी वैसी।
द्रव्य नहीं त्यागे निज गुण को सत्य त्रिकाली है ऐसी ॥२८॥

आठ कर्म और शरीरादिक नो कर्म शुद्ध आत्मा से भिन्न हैं। कर्म बन्ध राग द्वेप और मोहदिक आस्रवो के निमित्त से होता है। राग द्वेष और मोह स्वय पुद्गल है जो कि आत्मा की अज्ञान अवस्था में पैदा होते है अत रागादिक आत्मा से भिन्न है। किसी भी द्रव्य के गुण ही उस द्रव्य के स्व होते हैं, स्व गुण उस द्रव्य से कभी भी भिन्न नही हो सकते जिस तरह आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण। रागादिक पैदा होते है और नष्ट हो जाते है क्योकि आत्मा की वस्तु नही है अत रागादिक आत्मा से भिन्न है, जब रागादिक आत्मा से भिन्न है तब रागादिक के निमित्त से पैदा होने वाले कर्म और नो कर्म आत्मा से स्वत ही भिन्न हो गये। अत कर्मों और नो कर्मो की आत्मा से भिन्न स्थिति को जो समझता है उसके कर्म बन्ध का अभाव हो सकता है।

स्त्री पुत्र महल बगीचा ग्राम देश शरीर धन धान्य मे जो ममत्व भाव रखता है वह मिथ्यात्वी है। आत्मा के गुणो से विपरीत और स्व-भाव से विपरीत पर वस्तु और पर भाव आत्मा के निज नही हो सकते, यह एक ऐसी सत्य बात है जिसका किसी भी तर्क से खण्डन नही हो सकता।

स्वर्णत्व स्वर्ण कण मे ही रहता है और रह सकता है। ताम्र या चादी के कण मे स्वर्णत्व रहना कदापि सभव नही है। इसी प्रकार चेतन गुण आत्मा मे ही रहता है। ग्राम नगर धन धान्य मे नही रह सकता। स्त्री पुत्रादिक यद्यपि जीव है पर प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता होने से एक जीव दूसरे जीव का स्वामी नही हो सकता। स्वर्ण अपने गुणानुसार परिणमन करता है और ताम्रादिक अपने गुणानुसार परिणमन करते हैं। इसी प्रकार शुद्ध आत्मा भी अपने ज्ञान दर्शन गुणानुसार ही परिणमन करता है, शुद्धात्मा का परिणमन राग द्वेष रूप नही हो सकता यह त्रिकाली सत्य है, भूत भविष्य और वर्तमान मे इस सत्य का खण्डन नही हो सकता।

राग द्वेष और कषाये औपाधिक अर्थात् पर कृत भाव है—

राग द्वेष और सभी कषायें औपाधिक है भाव कहे।
मोह कर्म उदय से उपजें शुद्ध आत्मकृति नहीं रहे ॥२१॥

सेवालें जल में जो आवे, जल ना उनका कर्त्ता है।
रागद्वेष और विकृतियो का शुद्ध आत्म कर्त्ता ना है ॥३०॥

भेद ज्ञान इन विकृतियों का जिस प्राणी के पैदा हो।
शुद्ध आत्म पर दृष्टि धरे जो नहीं विकृति कर्त्ता हो ॥३१॥

शुद्ध आत्म की दृष्टि बनाये शुद्ध आत्म पा जाता है।
शुद्ध स्वर्ण की दृष्टि रहे तब शुद्ध स्वर्ण मिल पाता है ॥३२॥

राग, द्वेष, क्रोध मान, माया, लोभ तथा नोकषाय औदायिक भाव कहलाते है क्योकि वह भाव चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से पैदा होते हैं अत यह भाव पर निमित्त से है। शुद्ध आत्मा इन भावो का जनक नही है। आम्र वृक्ष के आम्र फल पैदा होते है, पर बबूल के नही। इसी प्रकार बबूल वृक्ष के काटे पैदा होते है, आम्र वृक्ष के काटे पैदा नही होते। शुद्ध आत्मा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला होने से ज्ञान दर्शन रूप ही परिणमन करता है राग, द्वेष रूप नही। जिस प्रकार जल मे जो सेवाल पैदा होती है वह जल के कारण नही पैदा होनी बल्कि जो जल मे अन्य विकृतिया आ जाती है उनके करण पैदा होती है। इसी प्रकार आत्मा के साथ जो अनादिकालीन मोह और मोह के निमित्त से अज्ञान है उसी के कारण राग, द्वेषादिक भाव पैदा होते है।

इस तरह जो जल मे सेवाल के पैदा होने के करण को जानता है वह सेवाल को जल से भिन्न जानता है, पहचानता है, उसी प्रकार जो राग, द्वेष के पैदा होने के कारण को जानता है, आत्मा के स्वभाव उसके गुणो को जानता है, वह राग, द्वेष को आत्मा से सदा भिन्न जानता है और पहचानता है।

जो भेद ज्ञान द्वारा शुद्ध आत्मा की दृष्टि रखता है, उसे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है। जिस तरह स्वर्ण और ता।आदिक का भेद ज्ञानी स्वर्ण दृष्टि रख कर शुद्ध स्वर्ण को पा लेता है।

आत्मा एक अविनाशी द्रव्य है। उसका ध्रुव स्वरूप है।

मैं अविनाशी ज्ञाता दृष्टा शुद्ध एक निश्चय से हूँ।
एक अणु नहीं मेरा जग मे रूप रहित कहलाता हूँ ॥३३॥

जो अविनाशी निज को माने तन की चिन्ता नहीं करे।
ज्ञाता दृष्टा रूप स्वयं का, पर का स्वामी नहीं बने ॥३४॥

अविनाशी का नाश कभी नहीं, हानि वृद्धि ना उसकी हो।
अग्नि में भी वह जले नहीं, ना शस्त्रो से हानि हो ॥३५॥
पर्यायों में भ्रमण करे वह फिर भी नाश न सत्का है।
पर्यायो का जन्म नाश हो आत्म द्रव्य तो ध्रुव ही है ॥३६॥

इस प्रकार भेद ज्ञान द्वारा जिसने निज पुद्गल गुणो से रहित आत्मा का एक रूप, शुद्ध रूप, ज्ञाता दृष्टा रूप, अरस अरूपी स्पर्श शब्द व गन्ध रहित जाना है वह अपना अविनाशी अस्तित्व जानता है, तथा ससार के एक अणु को भी निज स्वभाव और गुणो से विपरीत जानकर पर अनुभव करता है। वह आत्मा अनुभव करता है, कि मैं अविनाशी हूँ अर्थात् अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी मेरा नित्य स्वरूप कायम है। सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पर्याय धारण करने पर भी न तो मेरा एक प्रदेश कम हुआ और न एक प्रदेश वृद्धि को प्राप्त हुआ। मैंने अनन्त पर्याये धारण की है और उनका त्याग किया है। यह वर्तमान तन भी एक नाशमान पर्याय है, मैं तो अविनाशी हूं और पर्याय नाशमान है। अत: यह शरीर मेरा नही है। इस शरीर की हानि वृद्धि मेरी हानि वृद्धि नहीं है। मैं अनेक बार पर्याय अवस्था मे अग्नि मे जल गया, पानी मे गल गया, शस्त्रों से छिद भिद गया पर मेरे अविनाशीसत् स्वरूप आत्मा के अस्तित्व मे कुछ भी अन्तर नही आया। पर्यायों की ही उत्पत्ति व नाश हुआ मैं अविनाशी ध्रुव स्वरूप ही रहा। इस प्रकार जो अपने भगवान आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करता है, उसका अनुभव करता है, अपने सत् स्वरूप मे अविचल श्रद्धान करता है, वह सम्यग्दृष्टि होता है।

आत्मा जब निज अनुभूति करता है वह सम्यग्दृष्टि बन जाता है—

निज आत्मा अनुभूति करलो आत्म तत्व को प्राप्त करो।
अनुभूति कर प्राप्त, स्वयं का ज्ञाता दृष्टा रूप धरो ॥३७॥
जिसको निज अनुभूति होती ज्ञाता दृष्टा वही बने।
अतः आत्म अनुभूति बिन ना कोई सम्यग्दृष्टि बने ॥३८॥

अत: निज अनुभूति करो। यह जानने वाला है वह मैं हूं, यह जो चिन्तन करने वाला है वह मैं हूं, देखने, सूंघने, चखने, सुनने व छूने का

अनुभव करने वाला है वह मैं हूँ। शरीर पुद्गल है, पुद्गल मे जानने देखने की शक्ति नही है। पुद्गल चेतन नही होता। अत सम्पूर्ण जानने की क्रिया करने वाला मै आत्मा हूँ। इस तरह चिन्तन व ध्यान करने से आत्मानुभूति होती है। आत्मानुभूति होने पर मैं ज्ञान दर्शन गुण वाला हूँ तथा मेरे गुणो के अनुसार मेरा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव है। यह प्रत्यक्ष हो जाता है जिसको आत्मा की अनुभूति हो जाती है वह प्रत्यक्ष मे देख लेता है कि मैं ज्ञाता दृष्टा ही हूँ अत जो शास्त्र स्वाध्याय व गुरु वाणी से समझकर विश्वास किया था वह सत्य है। अत अनुभूति होने पर यह जीव सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

(भ्रमण बाह्य का व्यर्थ गया)

परिचय ना था निज का इससे भ्रमण किया जग नाप लिया।
कस्तूरी निज की नाभि मे भ्रमण बाह्य का व्यर्थ गया ॥१॥

विभव अनन्त स्वयं का ही है पर ऊपर क्यों दृष्टि किया।
पर को पर माने वह सम्यक्, पर, पर को निजमान लिया ॥२॥

पर को निज कहना चोरी है, यह है केवल मोहनशा।
यह नशा दारिद्र्य रूप है वैभव निज का भुला दिया ॥३॥

कोष लुटे छोटा सा दुख हो अनन्त चतुष्टय लुटा दिया।
चिन्तामणि हो रत्न स्वयं क्यो दीन स्वयं को मान लिया ॥४॥

क्या स्वर्ण कभी रांगा बनता कण सदा स्वर्ण का स्वर्ण रहा।
ओ चेतन तू स्वर्ण श्रेष्ठ है क्यो खोटा निज मान रहा ॥५॥

तुम मानव गति में जन्मे हो मानव गति पायी धन्य तुम्हें।
हे मानव तुम निज को जानो मानव बनना ना सुलभ तुम्हें ॥६॥

परिचय करलो परिचय करलो बिन परिचय के तू भटक गया।
तेरा प्रभु तेरे अन्दर जो भ्रमण किया वह व्यर्थ गया ॥७॥

इति आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ का आत्म परिचय अधिकार समाप्त हुआ।

———

ज्ञाता दृष्टा अधिकार ॥२॥

कार्य जगत में कैसे होते विधि विधान उनका क्या है ।
इस रहस्य को जो नर जाने सम्यक् दृष्टि होता है ॥३६॥

कर्त्ता कर्म का रहस्य जानना सबसे अधिक महत्व पूर्ण कार्य है, क्योकि इस रहस्य को जानने से ही आत्मा के स्वरूप का भान होता है, इस रहस्य को जानने से ही षट् द्रव्य मय जगत् और उसके स्वरूप परिणमन का ज्ञान होता है, इस रहस्य को बिना जाने कोई भी सम्यग्दृष्टि नही बन सकता अत कर्त्ता कर्म के रहस्य को जानना आवश्यक है।

मनुष्य यह समझता है कि प्रतिक्षण जो प्रत्येक द्रव्य का परिणमन हो रहा है, उसमे उसका कर्त्तृत्व है, जगत् के कार्य उसके द्वारा सम्पन्न होते है।

लेकिन यह मिथ्यात्व है। सूर्य चन्द्र और तारे क्या मनुष्य द्वारा गति प्राप्त करते हैं? हवा और प्रकाश की गति क्या मनुष्य कृत है? शरीर के त्याग करने के बाद जीव को गति कौन प्रदान करता है? मनुष्य के अन्दर रक्त सचालन और श्वास, हृदय कम्प आदि क्रियाये क्या मनुष्य की इच्छा से होती है? सबका उत्तर यह है कि यह गतिया मनुष्य द्वारा सपादित नही होती हैं। गति मे तो धर्म द्रव्य ही निमित्त है। इसके अलावा सभी द्रव्य स्वगुण और स्वभाव के अनुसार देश काल और भाव के अनुसार परिणमन करते है, और इसी प्रकार ससार के कार्यो का सपादन हो रहा है।

मनुष्य के जो क्रोधादि भाव उत्पन्न होते है उनका कर्त्ता भी चैतन्य स्वरूप आत्मा को मानना मिथ्यात्व है।

इस ज्ञाता दृष्टा अधिकार मे कर्त्ता कर्म के इस रहस्य को समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है।

कर्त्ता कर्म अधिकार के प्रारम्भ मे समयसार टीका कर्त्ता श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते है—

एक कर्त्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी ।
इत्यज्ञाना शमयदभित कर्त्ता कर्म प्रवृत्तिम् ॥
ज्ञान ज्योति स्फुरति परमोदात्तमत्यत धीरम् ।
साक्षात् कुर्वन्निरुपाधि पृथग्द्रव्य निर्भासि विश्वम् ॥

इस लोक मे मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा तो एक कर्त्ता है और यह क्रोधादि भाव मेरे कर्म है ऐसी अज्ञानियो की जो कर्त्ता कर्म प्रवृत्ति है उसे सब ओर से शमन करती हुई ज्ञान ज्योति स्फुरायमान होती है वह ज्ञान ज्योति परम उदात्त है, अर्थात् किसी के आधीन नही है। अत्यन्त धीर है, आकुलता रूप नही है और पर की सहायता के विना भिन्न २ द्रव्यो को प्रकाशित करने का उसका स्वभाव है। इसलिये वह समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष जानती है।

आत्मा स्व स्वभाव व गुणानुरूप परिणमन करता है—

आत्मा ज्ञाता दृष्टा जग मे ज्ञान और दर्शन गुण हैं ।
स्व स्वभाव विपरीत कार्य वह कर न सके यह निश्चय है ॥४०॥

आत्मा के गुण ज्ञान और दर्शन है अर्थात् जानना और देखना यह आत्मा की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और इसी कारण आत्मा ज्ञाता दृष्टा कहलाता है। आत्मा अपने स्वभाव के अनुसार ही कार्य कर सकता है, अपने ज्ञान दर्शन गुण और ज्ञाता दृष्टा स्वभाव के अनुसार जानना और देखना ही आत्मा का धर्म है। अपने स्वभाव के विपरीत कार्य करने की आत्मा की शक्ति नही है।

आत्मा जिन पदार्थों को जानता और देखता है उनका वह कर्त्ता नही हो सकता है। क्योकि जो जानता है, वह कर्त्ता नही है और जो करता है वह जानता नही है। जैसे आखे जिस पदार्थ को देखती है, उनको करती नही है, उसी प्रकार आत्मा केवल ज्ञाता दृष्टा है कर्त्ता नही है

आत्मा अरूपी है अत वह किसी रूपी पदार्थ का अर्थात् पौद्गलिक पदार्थ का कर्त्ता बने यह सम्भव नही। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह यह सभी पौद्गलिक है यही कारण है कि जब यह भाव आते है तब मुख का रग क्रोध मे लाल, माया मे काला तथा अन्य भावो मे भी अन्य अन्य तरह का हो जाता है।

प्रश्न—समय सार गाथा १२५ मे क्रोध मे उपयुक्त आत्मा को क्रोधी और मान मे उपयुक्त आत्मा को मानी कहा गया है अत. आत्मा क्रोधादिक भावो का कर्त्ता है।

उत्तर—यह ठीक ही है लेकिन आत्मा के क्रोधादिक भाव अज्ञान अवस्था के भाव हैं। जिस प्रकार आदमी पागल हो कर जो चेष्टाऐं करता है वह उस मनुष्य की ही चेष्टा है और किसी की नही है। उसी प्रकार अज्ञान अवस्था मे क्रोधादिक का कर्त्ता स्वय आत्मा ही है। लेकिन पागल आदमी का पागलपन दूर हो जाने पर पागलपन के समय की चेष्टा उसी आदमी द्वारा की हुई होने पर भी उसकी नही मानी जाती, पागल अवस्था मे की गई मान कर न्यायाधीश भी उसको दण्ड नहीं देता। उसी प्रकार अज्ञान अवस्था मे क्रोधादिक का कर्त्ता आत्मा के स्वय के होने पर भी ज्ञान अवस्था मे आने पर आत्मा को क्रोधादिक का कर्त्ता नही माना जा सकता, अज्ञान अवस्था के सभी कर्म ज्ञान अवस्था प्राप्त होने पर निर्जरित हो जाते है।

देखिये समय सार गाथा–१२७

अज्ञान मयो भावो अज्ञानिन करोति तेन कर्माणि।
ज्ञान मयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥

अत. यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी आत्मा केवल ज्ञान रूप ही परिणमन करता अत. वह क्रोधादिक भावो का कर्त्ता नही है।

पर्याय अवस्था मे आत्मा पर्याय स्वभावी होता है–

पर्याय अवस्था में आत्मा पर्याय स्वभावी होता है।
द्रव्य दृष्टि से गुणानुरूप स्वभाव रूप परिणमता है ॥४१॥

प्रत्येक द्रव्य उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप होने से पर्याये धारण करता रहता है। आत्मा की प्रतिक्षण जो पर्याय बनती है वह भाव रूप होती है। ज्ञान अवस्था मे आत्मा की ज्ञान रूप पर्याय होती है। अरहन्त और सिद्ध भगवान का परिणमन ज्ञान रूप ही होता है। सम्यग्दृष्टि भी ज्ञान रूप परिणमन करता है। मिथ्यादृष्टि अज्ञान रूप परिणमन करता है अत. कभी रागी, कभी क्रोधी, कभी द्वेषी, कभी मानी इत्यादि पर्यायो को धारण करता है।

आयु की दृष्टि से यह जीव मनुष्य देव नारकी और तिर्यन्च पर्यायो को धारण करता है। इन सब भावो मे जीव का स्वभाव भिन्न २ दिखाई

देता है तथा स्वभाव के अनुसार परिणमन भी देखा जाता है। जैसे सर्प स्वभाव से लोभी और क्रोधी होता है। कबूतर अत्यधिक कामी होता है। स्त्री स्वभाव से मायाचारिणी होती है। गुड स्वभाव से मधुर एव नमक स्वभाव से खारा होता है। नीम स्वभाव से कडुवा होता है।

लेकिन पर्याय धारण करने पर भी द्रव्य अपने स्वभाव को कभी नही छोडता अत आत्मा का ज्ञाता दृष्टा स्वभाव कभी नष्ट नही होता। अत द्रव्य दृष्टि से गुणानुरूप तथा स्वभाव रूप ही परिणमन करता है। निगोद अवस्था मे भी जीव ज्ञाता दृष्टा स्वभाव नही छोडता चाहे उसका ज्ञान अक्षर का अनन्तवा भाग ही हो। देव और मनुष्य अवस्था मे भी जीव ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला ही रहता है।

पदार्थ स्व स्वभाव रूप परिणमन करता है, इसको उदाहरण द्वारा समझाते हैं।—

जैसे जल शीतल स्वभाव है अग्नि ऊष्ण स्वभावी है।
वैसे ही अविनाशी आत्मा ज्ञाता दृष्टा जग मे है ॥४२॥
तीन लोक और तीन काल की ज्ञान शक्ति आत्मा में है।
इक कण का मीउलट फेर करना नहीं इस केवश में है ॥४३॥

आत्मा गुण और स्वभाव रूप परिणमन करता है इसको उदाहरण द्वारा समझिये—

जल स्वभाव से शीतल है, अग्नि का स्वभाव उष्ण है, यह दोनो अपने स्वभाव को कभी नही छोडते, तथा स्वभाव से विपरीत आचरण करे ऐसा भी नही होता, अर्थात् जल मे दाहक गुण तथा अग्नि मे शीतल गुण पैदा नही होता। इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला है, वह तीन लोक और तीन काल की सम्पूर्ण पदार्थो की सम्पूर्ण पर्यायो को एक साथ जानने और देखने की शक्ति रखता है। आत्मा अविनाशी है अर्थात् उसके असख्येय प्रदेशो मे से निगोद जैसी सूक्ष्म से सूक्ष्म पर्याय और एकेन्द्रिय से पन्चेन्द्रिय की वृहद से वृहद् पर्याय मे न तो कभी एक प्रदेश कम हुआ और न एक प्रदेश वृद्धि को प्राप्त हुआ।

आत्मा ज्ञाता दृष्टा है अर्थात् वह जान सकता है और देख सकता है पर ज्ञेय और दृश्य पदार्थो का कर्त्ता नही बन सकता क्योंकि पर मे कर्तृत्व शक्ति आत्मा के स्वभाव से परे है। वह एक कण को भी इधर

उधर नही कर सकता ऐसा करना आत्मा की शक्ति से बाहर है

शंका—जल गर्म हो जाने पर शीतल स्वभाव न रह कर उष्ण स्वभावी हो जाता है क्या यह स्वभाव परिवर्तन नही है ?

उत्तर—जल के साथ पर अग्नि का सयोग होता है तब ही जल जला रहा है ऐसा प्रतीत होता है, वस्तुत· जल जलाने का कार्य नही करता। जल के सूक्ष्म कणो के साथ जो अग्नि के सूक्ष्म कण है वे ही जला रहे है। कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव से विपरीत कार्य कभी नही कर सकता।

देखिये समय सार गाथा—१०३-१०४

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यास्मिनस्तुन सक्रामति द्रव्ये।
सोऽन्यदसक्रान्त　कथं　तत्परिणमयति　द्रव्यम् ॥
द्रव्य गुणस्य चात्मा न करोति पुद्गल मये कर्मणि।
तदुभयमकुर्वस्तस्मिन्　कथ　तस्य　स　कर्त्ता ॥

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से क्रोधादिक कषाये पैदा होती है—

क्रोध मान और मायाचारी लोभ नहीं इसकी कृति है।
अज्ञान बने कारण इनका जो चारित्र मोह उदय से है ॥४४॥
कर्मोदय सेभाव बनें सब कर्मोदय से ही इच्छा।
उदित कर्म फल निज मत मानो बन्धन से तुम बचो सदा ॥४५॥

क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार कषायें संसार बन्धन का मुख्य कारण हैं। इनका कर्त्ता आत्मा नही है, क्योकि आत्मा अज्ञान अवस्था में क्रोधादि रूप परिणमन करता है। जिस प्रकार शराब के नशे में मनुष्य अज्ञानी बन कर अनेक तरह की विकृत चेष्टायें करता है, वह विकृतिया शराब के नशे के कारण ही होती हैं, शुद्ध अवस्था मे मनुष्य ऐसी चेष्टाये नही करता। उसी प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से अज्ञान और अज्ञान क्रोधादि कषायो का निमित्त कारण बनता है, शुद्ध आत्मा क्रोधादि रूप परिणमन नही करता अत· आत्मा, क्रोधादि जो आस्रव, कर्म बन्ध के कारण है, उनका कर्त्ता नही है।

प्रतिक्षण कर्म का उदय होता है जिसके निमित्त से आत्मा की अज्ञानावस्था मे अज्ञान भाव और ज्ञानावस्था मे ज्ञान भाव पैदा होते हैं।

कर्म के उदय से सुख रूप या दुख रूप फलो की सृष्टि होती है। ज्ञानी आत्मा इन कर्म फलो को निज का न मानकर कर्मोदय के निमित्त से हुआ मानता है। भावो और इच्छाओ का भी वह कर्त्ता नही बनता, क्योकि सभी इच्छाये कर्मोदय के निमित्त से पैदा होती है। अत ज्ञानी भव्य जनो को बन्धन से बचने के लिये उदित कर्म फल का स्वामी या कर्ता नही बनाना चाहिये।

क्रोध, मान, माया। लोभ, राग, द्वेष, मोह यह सभी भाव चारित्र मोह के उदय से पैदा हुए अज्ञान के निमित्त से पैदा होते है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञाता दृष्टा है लेकिन अनादि काल से अज्ञान के कारण वह अपने आपको क्रोधी, मानी इत्यादि मानता है, बस यही वह अज्ञान है जिसके कारण आत्मा के ज्ञान स्वभाव पर आवरण आता ही रहता है।

सुख दुख का कर्त्ता आत्मा नही है।

सुख दुख कर्मोदय के फल हैं निज कर्तृत्व न मान कदा।
कर्तृत्व भाव राग कारक है राग बन्ध को करे सदा ॥४६॥
राग भाव अज्ञान अवस्था यह है पुद्गल समझ जरा।
चेतन आत्मा को पुद्गल का कर्त्ता कहना है मिथ्या ॥४७॥

शुभ कर्म के उदय से सुख और अशुभ कर्म के उदय से दुख मिलता है, सुख दुख का जो स्वामी बनता है उसके पदार्थो मे इष्ट अनिष्ट कल्पना अवश्य पैदा होती है। इष्ट अनिष्ट कल्पना से राग, द्वेष की उत्पत्ति होती है राग, द्वेष कर्म बन्ध के कारण है।

राग पुद्गल है क्योकि चेतन नही है। राग पुद्गल है क्योकि आत्मा से भिन्न ही रहता है। राग आत्मा से भिन्न है क्योकि आता है और चला जाता है। राग आत्मा से भिन्न है क्योकि जिनके निमित्त से राग पैदा होता है वे आत्मा से भिन्न है।

राग भिन्न और अचेतन होने के कारण आत्मा की कृति नही है। सुख दुख का का कर्त्ता या स्वामी बनने से सुख दुख के निमित्त पदार्थो मे राग अवश्य पैदा होता है। राग का अर्थ किसी वस्तु से प्रेम करना या चिपकना है। एक सूई मे भी राग बुद्धि सूई के साथ बन्धन पैदा करती है अत राग बन्धन का कारक है, राग अचेतन है अत राग का स्वामी

आत्मा नही हो सकता क्योकि आत्मा ज्ञान दर्शन रूप परिणमन कर सकता है राग रूप नही। अत चेतन आत्मा को अचेतन राग का कर्त्ता कहना मिथ्यात्व है।

पर द्रव्यो का कर्त्ता यदि हो तन्ययता आ सकती है।
आत्मा तन्मय नही होता है फिर कर्त्ता वह कैसे है ॥

समय सार गाथा ११

राग द्वेषादि नित्य नही है क्योकि आत्मा के स्वभाव नही है।

गुण स्वभाव ही द्रव्य रूप है वह उससे होता न विदा।
राग, द्वेष, क्रोधादिक सारे नित्य अवस्थित नहीं कदा ॥४८॥
मोह स्थिति सप्तति कोड़ा कोड़ी सागर है उत्कृष्ट कहा।
फिर भी उसको जाना ही है नहीं नित्य उसको माना ॥४९॥

द्रव्य का स्वरूप उसके गुण और स्वभाव से ही जाना जाता है। द्रव्य के गुण और स्वभाव द्रव्य मे नित्य रूप से रहते है द्रव्य के गुण और स्वभाव द्रव्य से कभी भी पृथक् नही होते। राग, द्वेष व क्रोधादिक कभी भी आत्मा मे नित्य रूप से नही रहते अत राग, द्वेषादिक आत्मा से भिन्न है।

मोह की स्थिति सत्तर कोड़ा कोडी सागर उत्कृष्ट कही है अर्थात् किसी वस्तु मे मोह के सस्कार सत्तर कोडा कोडी सागर तक रह सकते हैं, फिर भी उसका पृथक्त्व हो ही जाता है अर्थात् कोई भी विकृत भाव नित्य नही है।

केवल द्रव्य के गुण और उसका स्वभाव अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। अत आत्मा के ज्ञान दर्शन गुण और ज्ञाता दृष्टा, स्वभाव आत्मा मे अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगे, अत आत्मा अपने ज्ञान दर्शन परिणमन का ही कर्त्ता है।

पदार्थ स्व स्वभाव रूप परिणमन करता है और उसी का कर्त्ता होता है।

क्रोध कर्म निमित्त क्रोध का विकृतिकर्म निमित्त विकार।
जो कर्त्ता निज को न माने समझे वह धर्म का सार ॥५०॥
स्वर्णाभूषण स्वर्ण कहाते लौह से निर्मित लौह कहे।
आत्मा दर्शन ज्ञान मयी है दर्शन ज्ञान उसे ही कहे ॥५१॥

आम के वृक्ष से आम पैदा होते है और बबूल के वृक्ष से काटे पैदा होते है, उसी प्रकार क्रोध कर्म का कर्त्ता क्रोध ही है और अन्य विकृतियो की कर्त्ता अन्य विकृतिया है। चेतन आत्मा जो ज्ञान का पिण्ड है ज्ञाता दृष्टा है वह इन विकृतियो का कर्त्ता नही है जो इस तत्त्व को समझता है वह धर्म के रहस्य को समझता है।

स्वर्ण से बने हुए आभूषण स्वर्ण होते है और लोहे से बने हुए लोहा कहलाते हैं इस प्रकार ज्ञान दर्शन मय आत्मा ज्ञान दर्शन का जनक ही है।

अत सिद्ध होता है कि लोहे के बर्तन स्वर्ण से बने हुए नही कहलाते उसी प्रकार क्रोधादिक विकृतिया ज्ञान दर्शन मय आत्मा की कृति नही हो सकती।

कर्म और अत्मा भिन्न भिन्न है—

कर्म विकृति और आत्मा दोनो भिन्न स्वभावी हैं।
गुण भी उनके पृथक् पृथक् हैं अतः भिन्न परिणामी हैं ॥५२॥

अमृत फल अमृत बर्षाता, विषवल्ली विष वमन करे।
आत्मा दर्शन ज्ञान मयी है, कर्म निमित्त आवरण के ॥५३॥

राग, द्वेष, मोह तथा क्रोधादिक भाव अज्ञान के निमित्त से पैदा होने वाले हैं तथा स्वय अज्ञान के निमित्त भी है। आत्मा ज्ञान दर्शन गुण वाला होने से केवल ज्ञाता दृष्टा है। अत आत्मा मे और राग, द्वेषादिक विकृतियो मे प्रकाश और अन्धकार जितना भेद है। अत कर्म विकृतियो का और आत्मा का स्वभाव भिन्न है विपरीत है अत इनका परिणमन भी स्वभाव के अनुसार ही होता है। अत इन दोनो के स्वभाव को तथा गुणो को जो जानता है वह इनके भेद को भी जानता है। यह भेद ज्ञानी आत्मा के स्वरूप को समझकर उसका ज्ञान कराने वाला है।

उदाहरण के लिये-अमृत फल से अमृत प्राप्त होता है और विष की बेल से विष ही प्राप्त होता है उसी प्रकार कर्म प्रकृतिया ससार बन्ध का कारण हैं और आत्मा स्वय दर्शन और ज्ञान मय होने के कारण ज्ञान रूप और दर्शन रूप ही परिणमन करता है। ज्ञान प्रकाश है सुख कारक है, परमानन्द कारक है और कर्म प्रकृतिया ससार मे भ्रमण कराने के लिये निमित्त है, दुख का कारण भूत हैं तथा आत्मा के ज्ञान गुण पर आवरण के निमित्त भूत है।

सुख दुख कर्मोदय के फल है—

कर्मोदय के असंख्य फल हैं सुख या दुख परिणाम मयी।
अतः कर्म सुख दुख निमित्त हैं आत्मा ज्ञाता दृष्टा ही ।।५४।।

कर्मोदय के निमित्त से यह जीव, जिनका सुख या दुख फल है ऐसे असख्य फलो को प्राप्त करता है। प्रति क्षण कर्मो का उदय होता रहता है और उस कर्मोदय के निमित्त से ही सुख या दु ख की सृष्टि होती है। इसलिये कर्मो को ही सुख और दु ख का निमित्त माना गया है।

इन कर्म फलो का स्वामी आत्मा नही है क्योकि आत्मा तो कर्म और कर्म फल का ज्ञाता दृष्टा ही है कर्त्ता या स्वामी नही है।

ज्ञानी जीव कर्म फलो को स्वामी भाव या कर्त्ता भाव से नही भोगता—

वियोग बुद्धि से उदय प्राप्त भोगो को ज्ञानी भोगे है।
भविष्य भोग इच्छा नही रखता भूत चिन्तना भी ना है ।।
वेद्य वेदक भाव दोनो समय समय नश जाते है।
ज्ञानी को इच्छा नही उनकी ज्ञाता बनकर रहते है ।।
बध भोग के निमित्त जो है अध्यवसान उदय से होते हैं।
उन ससार देह विषयो मे ज्ञानी राग ना रखते हैं ।।
जो ज्ञानी सब ही द्रव्यो का राग छोडने वाला है।
अलिप्त कर्म मध्य मे रहता स्वर्ण यथा कीचड मे है ।।
(समय सार प्रकाश गाथा २१५ से २१८)

विपरीत गुण वाले पदार्थो की सगति से विपरीतता भासित होती है।—

कर्म विकारों की संगति से शुद्ध आतम अशुद्ध कहा ।।
जिस विधि ताम्र, रजत संगति से शुद्ध स्वर्ण अशुद्ध कहा ।।५५।।
फिर भी स्वर्ण ताम्र नहीं बनता निज स्वरूप को ना तजता।
इस विधि विकृति के संग में भी आतम स्वभाव नहीं तजता ।।५६।।
ज्ञान भाव का कर्त्ता आतम स्वर्ण भाव का कर्त्ता स्वर्ण।
विकृत भाव नही आतम के लोह भाव नहीं करता स्वर्ण ।।५७।।

आत्मा एक शुद्ध चेतन द्रव्य है ज्ञान दर्शन मय है। लेकिन जैसे खान मे ही स्वर्ण के साथ अशुद्धिया लगी रहती है उसी प्रकार अनादि काल से आत्मा के साथ कर्म विकृतिया लगी हुई है। इन विकृतियो की संगति से ही शुद्ध आत्मा को अशुद्ध कहने मे आता है। जिस प्रकार ताम्र, रजत आदि की सगति से शुद्ध स्वर्ण अशुद्ध कहने मे आता है।

फिर भी स्वर्ण के कण स्वर्णत्व का त्याग नही करते और न विकृतियो को ग्रहण करते है। अनेक विकृतियो के साथ भी स्वर्ण का शुद्ध भाव अशुद्ध नही होता। इसी प्रकार राग, द्वेप, मोह और क्रोधादिक विकृतियो के साथ रहने पर भी आतमा का शुद्ध स्वरूप शुद्ध ही बना रहता है, आत्मा कभी भी न तो अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को छोडता है और न ज्ञान दर्शनादि गुणो का त्याग करता है।

आत्मा अपने ज्ञान भाव का कर्त्ता है और स्वर्ण अपने स्वर्ण भाव का कर्त्ता है। आत्मा अपने ज्ञान भाव से विपरीत कर्त्ता भाव को कभी नही करता। तथा राग मय, द्वेष मय, क्रोधादि भावो को कभी नही करता। उसी प्रकार स्वर्ण भी सदा स्वर्ण भाव को ही करता है लौह भाव को नही नही करता।

मोहाच्छादित आत्मा उन्माद रोग से ग्रसित मनुष्य की तरह है।

मद निमित्त से मद पैदा हो नहीं वह ज्ञानी का कर्म।
आत्मा मोहाच्छादित जब है तभी करे वह विकृत कर्म ॥५८॥

मस्तिष्क रुग्ण जब हो जाता है ज्ञान केन्द्र विकृत बनता।
तब प्राणी उन्मत्त कहता उन्मादी बन जाता ॥५६॥

उन्माद अवस्था में यह प्राणी विकृत चेष्टा किया करे।
निज वस्त्रों को फाड़े ताड़े निज शरीर आहत करले ॥६०॥

उन्मादी अज्ञानी बन कर कर्म फलो का भोग करे।
इसी तरह यह जीवराज भी मोहच्छादित भोग करे ॥६१॥

उन्मादी जन यह ना जाने किन कर्मो के भोग हुए।
उसी तरह मोहाच्छादित भी कर्म कर्म फल ना जाने ॥६२॥

भेषज के बल उन्मादी का रोग दूर जब होता है।
चेष्टा उसकी ठीक बने और ज्ञानी वह कहलाता है ॥६३॥

उसी तरह से मोहाच्छादित मोह हटे मोही न रहे।
ज्ञान पूर्ण सब परिणति बनती जिन प्रभु ज्ञानी उसे कहे ॥६४॥
उन्माद अवस्था के सब अवगुण क्षम्य जगत मे होते हैं।
जीवराज जब ज्ञानी बनता पूर्व कर्म झड़ जाते हैं ॥६५॥

जब कोई व्यक्ति मद का सेवन कर लेता है तब उसको नशा उत्पन्न हो जाता है, नशे की अवस्था मे वह अनेक तरह की विकृत चेष्टाये करता है वह नशे के कारण है, उसकी चेष्टाओ को ज्ञानी की न कह कर अज्ञानी की कहते है। उसी तरह यह आत्मा अनादि काल से मोह से आच्छादित,(ढका हुआ) है। मोह से आच्छादित होने के कारण ही विकृत भाव उत्पन्न होते है। जो विकृत कार्य होने मे निमित्त बनते हैं।

जब किसी व्यक्ति का मस्तिष्क रुग्ण हो जाता है। उसका ज्ञान केन्द्र विकृत हो जाता है, उसकी क्रियाये ज्ञान पूर्ण न होने के कारण उसको उन्मत्त कहते है। उन्मत्त या उन्मादी एक ही अर्थ के वाचक हैं। उन्माद (पागल) अवस्था मे वह व्यक्ति अज्ञान पूर्ण चेष्टाये करता है। अपने स्वय के कपडो को फाडने लगता है, अपने स्वय के शरीर को क्षत विक्षत कर लेता है। वह उन्मादी उन्माद अवस्था मे अपने किये हुए कार्यों के फल भी भोगता है। इसी प्रकार मोह से आच्छादित यह जीव अपने स्वरूप को न जानने के कारण अपने आप को राग, द्वेष, मोह व क्रोधादि भावो का कर्त्ता मानता है, सासारिक पर वस्तुओ से राग करने के कारण उन वस्तुओ से बधा हुआ रहता है। अज्ञान अवस्था दुर न होने के कारण वह मोह का सस्कार सत्तर कोडा कोडी सागर तक बना रह सकता है, और यह जीव मोह से कर्मो के बन्धन मे बधा हुआ रहता है।

जिस प्रकार उन्मादी स्वय की विकृत चेष्टाओ का फल पाता हुआ भी यह नही जानता कि मुझे यह दण्ड अथवा दुख किस कारण से मिलता है। इसी प्रकार मोहाच्छादित जीव तीव्र अज्ञान से ग्रसित होने के कारण कर्म और कर्म फलो को व उनके कारणो को नही जानता।

उन्मादी को दवा का निमित्त मिलने से जब रोग दूर हो जाता है, तब उसकी चेष्टाये सुधर जाती हैं, ठीक हो जाती हैं, फिर वह पागल नही कहलाता। उस को समाज ज्ञानी ही मानता है। उसी तरह जब

इस जीव के मोह का परदा हल्का हो जाता है, मोहनीय कर्म की स्थिति अन्त कोडा कोडो सागर रह जातो है, तब इस को स्व व पर का ज्ञान होता है, तब यह जोव अपने स्वरूप को पहचानता है और अपने अनन्त चतुष्टय के वैभव को जानता हैं। ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि बन सकता है जिन प्रभु उसको ज्ञानी कहते है।

उन्मादी को उन्माद अवस्था के कार्यो का दण्ड उन्माद दूर हो जाने पर नही मिलता उसके अपराध क्षम्य माने जाते है। उसी प्रकार मोह का घन पटल दूर होने पर यह जीव ज्ञानी हो जाता है, उसके अज्ञान अवस्था मे बधे हुए कर्म झड जाते है।

क्रोध और रागादिक आत्मा से अन्य है, ज्ञान और दर्शन आत्मा से अनन्य हैं—

ज्ञानी ज्ञान भाव का कारण ज्ञान भाव का कर्त्ता है।
मोह और अज्ञान भाव का कर्त्ता वह नहीं होता है॥६६॥

उपयोग अनन्य जीव से रहता, क्रोधादिक ना रहते हैं।
क्रोधादिक हैं पुद्गल सब ही अनन्य स्वयं से रहते हैं॥६७॥

अगर जीव पुद्गल बन जावे या यह पुद्गल जीव बने।
क्रोध और रागादिक तब ही अनन्य जीव से 'भीत' बने॥६८॥

गुण स्वभाव अनन्य द्रव्य से गुण स्वभाव भाव कर्त्ता।
पर गुण पर स्वभाव भाव का बन सकता ना वह कर्त्ता॥६९॥

आत्म ज्ञानी अपने ज्ञान भाव का स्वय ही कारण और स्वय ही कर्त्ता है लेकिन मोह और अज्ञान का न तो वह कारण है और न कर्त्ता है।

उपयोग जीव का लक्षण है अर्थात् जीव उपयोग स्वरूप होता है। अत उपयोग जीव से अनन्य है। क्रोधादिक भाव न तो जीव के लक्षण हैं और न जीव के स्वभाव है अत क्रोधादिक जीव से अनन्य नही है अर्थात् क्रोधादिक जीव से भिन्न हैं। क्रोधादिक सम्पूर्ण भाव पुद्गल के निमित्त से पैदा होने के कारण पुद्गल ही है अत चेतन ज्ञाता से भिन्न है। क्रोधादिक क्रोधादिक स्वरूप है अत क्रोधादिक स्वय से अनन्य है।

जीव उपयोग लक्षण और चेतन लक्षण वाला है, क्रोधादिक न तो उपयोग लक्षण वाले है और न चेतन है, अत व पुद्गल है। पुद्गल जीव मय नही हो सकता और जीव पुद्गल मय नही हो सकता, अत क्रोधादिक और रागादिक जीव नही हो सकते और न जीव क्रोधादिक बन सकते है।

प्रत्येक द्रव्य मे गुण होते हैं और प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव होता है, उन गुणो और स्वभाव के कारण ही वह द्रव्य होता है। जैसे जीव के गुण ज्ञान और दर्शन हैं, जीव का स्वभाव ज्ञाता दृष्टा होता है। पुद्गल रूप रस गन्ध और स्पर्श वाला होता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यो के भी गुण और स्वभाव होते हैं।

प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव का ही कर्त्ता होता है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्वभाव भाव का कर्त्ता नही होता।

ससार मे जो कार्य होते है उनकी विधि इस प्रकार है--

सभी कार्य क्रमबद्ध जगत के क्रम क्रम से वे होते हैं।
पर्यायें भी क्रम क्रम से ही निज स्वरूप परिणमति हैं ॥७०॥

कर्मोदय से भाव बनें जो, वे भी सभी सुनिश्चित हैं।
आत्म प्राप्ति हित जो उद्यम हो वह भी क्रम मे स्थित हैं ॥७१॥

आत्मा तो ज्ञाता दृष्टा है नहीं कार्य को करता
कर्मोदय से भाव हैं बनते निमित्त वह कहलाता है ॥७२॥

अब बोलो हे ज्ञानी प्राणी आत्मा कर्त्ता किस विध है।
कर्त्ता कर्म कहानी जग मे यथा एक नाटक ना है ॥७३॥

ज्ञाता दृष्टा उदित भाव का भी ज्ञाता बन कर रहता।
कर्मों के इस व्यूह चक्र का वह निश्चित भेदन करता ॥७४॥

जो कर्त्ता ना निज को माने वह भोक्ता भी नहीं बने।
बस यही भेद है जिससे वह तो कर्म बंध में नहीं सने ॥७५॥

यदि तुम चाहो कर्म संतति भन्जन करना हे प्राणी।
कर्मोदय भावों के कर्त्ता बनना छोड़ो बन ज्ञानी ॥७६॥

अब यह समझा रहे है कि कर्त्तृत्व बुद्धि मिथ्यात्व है, क्योकि ससार के जितने भी कार्य है वे पहले से ही सुनिश्चित है, उन कार्यों के सम्पादन

हेतु जो निमित्त बनते है, वे भी निश्चित हैं और जो उन कार्यों के करने हेतु भाव बनते है, वे भी निश्चित हैं। सर्वज्ञ भगवान के भूत भविष्य और वर्तमान की सभी पर्याये ज्ञान मे युगपत् झलकती है अर्थात् सर्वज्ञ भगवान ने जिस कार्य को जिस विधि से जिस क्षेत्र और काल मे होते देखा है वह उसी क्षेत्र और काल मे उसी विधि से होगा यह निश्चित है। कोई कार्य होता है उसमे भाव भी होते है, अत किस कार्य के लिये कौनसे भाव किस समय बनेंगे यह भी निश्चित है।

प्रश्न--यदि सभी कुछ पहले से ही निश्चित है यह माना जावेगा, तो पुरुषार्थ हीनता पैदा हो जायगी।

उत्तर--पुरुषार्थ हीनता का प्रश्न ही नही है उदाहरण के लिये किसी केवल ज्ञानी ने यह देखा कि यहा एक जलाशय बनेगा तो फिर जलाशय आसमान से उडकर तो आ नही जायेगा-वहा मिट्टी की खुदाई होगी उसमे हजारो आदमी काम करेंगे तब ही तो वह जलाशय बनेगा। जलाशय बनाने के भाव भी किसी राज्याधिकारी या जनता के बनेगे उसके लिये राज्यादेश बजट वगैरह सभी स्वीकृत होगे तब ही वह जलाशय बन पायेगा अत कार्य के साथ तत्सम्बन्धी पुरुषार्थ भी जुडा हुआ है, अत. पुरुषार्थ हीनता होने का प्रश्न ही पैदा नही होता।

सिर्फ यह ज्ञान कराने का उद्देश्य है कि सभी कार्य द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार पूर्व मे ही सुनिश्चित है अत तेरा कर्तृत्व कहा है? न तू किसी कार्य का कर्त्ता है और न किसी का कर्म है।

तू एक शुद्ध आत्म द्रव्य है तेरा स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है क्या कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव और गुणो से अतिरिक्त परिणमन कर सकता है ? नही। अरे भाई ज्ञाता दृष्टा का अर्थ जानने वाला और देखने वाला होता है। ज्ञाता दृष्टा का अर्थ करने वाला नही होता। अत अपने मिथ्या भाव को हटा कि तू किसी कार्य का करने वाला है।

जीव के जो भाव बनते हैं वे प्रतिक्षण होने वाले कर्मोदय के निमित्त से बनते है। अत भावो का कर्त्ता भी तू नही है। अत हे ज्ञानी प्राणी तुम किसी भी पर कार्य के कर्त्ता नहीं हो। तुम्हारे स्वभावानुसार जो ज्ञान दर्शन रूप परिणमन होता है, तुम केवल उसी के कर्त्ता व स्वामी हो।

कर्म सभी पुद्गल है अत उनके निमित्त से पैदा होने वाले भाव भी पुद्गल हैं। वे भाव इसलिये भी पुद्गल है कि आत्मा के स्वभाव से उनका स्वभाव विपरीत है। पुद्गल से जीव का क्या नाता, पर यह जीव अज्ञान अवस्था मे पुद्गल को निज मानता है। भाई जिसको तुम निज मानोगे उससे तुम्हारा वन्धन होगा या नही ? ससार वन्धन यही है कि तुम पर पदार्थो मे ममत्व बुद्धि बनाये हुए हो तुम्हारी यह बुद्धि ही वन्धन वनाये हुए है यह मिथ्या बुद्धि जब शुद्ध हो जायगी तव तुम्हारा वन्धन स्वत समाप्त हो जायगा। तुम ससार मे किसी भी वस्तु किसी भी कार्य के न कर्त्ता हो और न स्वामी, यह एक वस्तु स्वरूप है। भाई इस तत्व को समझोगे तव ही तुम्हारी दृष्टि सम्यक् कहलायेगी।

कर्त्ता कर्म की कहानी एक नाटक है, जिस प्रकार नाटक मे सव पात्र वनावटी और सव कार्य वनावटी है उसी प्रकार इस ससार मे कर्त्ता कर्म कहानी झूँठ है। जो जीव इस रहस्य को समझकर अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को समझकर स्वचालित संसार के कार्यों और औपाधिक भावो का कर्त्ता नही वनता वह सम्यक् दृष्टि है, जिसके कारण वह कर्मो के व्यूह चक्र का भेदन करने मे समर्थ होता है।

जो कर्त्ता नही है वह भोक्ता भी नही है, यह एक तथ्य है, अत जीव केवल ज्ञाता दृष्टा है, अत. हे भव्य प्राणी यदि तुम ससार चक्र का भेदन करना चाहते हो तो अपने कर्त्ता भोक्ता भाव का त्याग कर ज्ञानी वनो जिससे कर्म वन्ध मे न फसो।

ससार के कार्य स्वचालित है इसको उदाहरण से समझाते हैं—

सूर्य चन्द्र निज गति से चलते तारा मण्डल उसी तरह।
विग्रह गति में जीवराज भी चलता बिन पुरुषार्थ किये ॥७७॥

एक समय मे एक अणु की चौदह राजु गति कैसे।
कौन प्रेरणा उसको करता जो गति करता है ऐसे ॥७८॥

निज शरीर के भीतर गतियां किसके कहने से होती।
श्वासोच्छ्वास और हृदय कम्प की गतियां प्रतिक्षण क्यों होती ॥७९॥

मूत्र और मल त्याग करन को कौन समय पर कहता है।
जग की सारी क्रिया व्यवस्थित धर्म अधर्म निमित्त से है ॥८०॥

उदाहरण द्वारा अब यह समझा रहे है कि इस ससार मे सम्पूर्ण क्रियायें स्वचालित है जिसके निमित्त कारण धर्म व अधर्म द्रव्य है। सूर्य चन्द्र और तारा मण्डल प्रतिक्षण निज गति से चल रहे है। जीव जब एक शरीर को छोड कर जब दूसरे शरीर को धारण करता है तब विना पुरुषार्थ के ही असख्यात योजन तक चलता है। एक समय मे विना किसी प्रेरणा के एक पुद्गल परमाणु चौदह राजू तक गति कर सकता है। जीव जिस शरीर के साथ रहता है, उसमे भी श्वासोच्छ्वास हृदय कम्प मल मूत्र त्याग आदि क्रियायें स्वचालित ही है। अत धर्म अधर्म द्रव्य जो कि गति स्थिति मे निमित्त कारण है, उनके कारण ही यह गतिया हो रही है, किसी की प्रेरणा या कर्त्तृत्व के कारण नही। गतियो मे द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव भी कारण है।

अत हे भव्य जीव तू अपने कर्त्तृत्व भाव को छोड कर ज्ञाता दृष्टा बन कर रह।

•

सासारिक कार्य करना पुरुपार्थ नही है, पुरुषार्थ का सम्यक् रूप इस प्रकार है—

पुरुषार्थ नाम तो बहुत सुना पुरुषार्थ अर्थ ना जाना है।
आत्म प्राप्ति पुरुषार्थ जानना सम्यग्ज्ञान बखाना है ॥८१॥

स्व पर का जो भेद जान ले स्व स्वरूप सम्यक् जाने।
निज वैभव को जो पहचाने निज आत्मा व ही जाने ॥८२॥

आत्म प्राप्ति पुरुषार्थ और नहीं, निजमे निजको रहना है।
निज स्वरूप में रहने को पुरुषार्थ प्रभु ने माना है ॥८३॥

निज मे रहना आत्मरमण शास्त्रो मे खूब बखाना है।
निज पर को जो सम्यक् जाने रमण कर सके माना है ॥८४॥

पुरुषार्थ नाम से डरो नहीं, पुरुषार्थ नहीं कुछ करना है।
केवल ज्ञाता दृष्टा बनकर आतम घर मे वसना है ॥८५।

आतम घर मे ही रहना है पुरुषार्थ और ना करना है।
भवन किराये का ना है यह पूर्ण सुखी हो रहना है ॥८६॥

प्रश्न—आचार्य कुन्द कुन्द ने समय सार के मोक्ष अधिकार मे लिखा है कि विना पुरुपार्थ यह जीव निज को बन्धन युक्त मानता हुआ

भी जब तक बन्धन को स्वयं नही काटा करता है तब तक बन्धन से मुक्त नही होता, अत आत्म प्राप्ति पुरुषार्थ करने वाला भी क्या कर्त्ता नही बनता ?

उत्तर—हे भाई तुमने पुरुषार्थ का नाम तो बहुत सुना परन्तु पुरुषार्थ जो मोक्ष प्राप्ति के लिये करना है इसको समझा नही है। जो शुद्ध आत्मा की उपलब्धि के लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसको जानना ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है, वह विधि क्या है, इसको सुनो।

मैं स्वभाव से एक शुद्ध आत्म द्रव्य हूँ। मैं उपयोग लक्षण वाला चेतन स्वरूप ज्ञान दर्शन मय हूँ। मैं अनन्त धर्मी हूँ। मेरा वैभव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य एवं अनन्त सुख है। मैं न मनुष्य, न देव न तिर्यन्च और न नारकी हूँ। मैं सभी पर्याये धारण करता हुआ भी एक चेतन स्वरूप शुद्ध आत्मा ही हूँ। पर्याय के कारण जो राग द्वेषादिक विकृतिया उत्पन्न होती है, उनसे भिन्न हूँ। अर्थात् मेरे शुद्ध स्वभाव मे राग, द्वेषादिक विकृतिया उत्पन्न नही होती है। ज्ञान रूप परिणमन का तो मैं कर्त्ता हूँ लेकिन मोहनीय कर्म के उदय से जो अज्ञान पैदा होता है उसके निमित्त से जो आत्मा मे राग, द्वेषादिक भाव उत्पन्न होते है उनसे मैं भिन्न हूँ क्योकि आत्मा ज्ञान स्वरूपी है और ज्ञान रूप परिणमन ही कर सकता है। राग, द्वेषादिक भाव पर के निमित्त से पैदा होने के कारण आत्मा से भिन्न है। आत्मा ज्ञान मय है और राग, द्वेष परिणति अज्ञान है। ज्ञान से अज्ञान कभी पैदा नही होता। जिस प्रकार प्रकाश से अन्धकार पैदा नही होता, प्रकाश का अभाव अन्धकार होता है उसी प्रकार ज्ञान का अभाव अज्ञान है। और ज्ञान, अज्ञान का कर्त्ता नही है।

आत्मा के गुण ज्ञान और दर्शन है, अर्थात् आत्मा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला है। जब आत्मा अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जान लेता है, तब वह स्व को जान लेता है, और अपने गुणो से विपरीत कर्म और नोकर्म को जान लेता है तब वह पर को जान लेता है। जो स्व और पर दोनो को जानता है उनके गुण और स्वभाव को जानता है वह दोनो का भेद समझ लेता है।

स्व और पर के भेद को जान कर जो स्व मे स्व कोस्थित करता है वह स्व स्थिति ही सच्चा पुरुषार्थ है, स्व स्थिति को ही आत्म रमण कहते हैं।

स्व स्थिति ही सम्यक् चारित्र है स्व स्थिति से ही कर्म सतति का भन्जन एव मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत हे भव्य जीवो ! पुरुषार्थ का अर्थ किसी पहाड़ को उठाना या नदी नद को पार करना नही है। आत्म प्राप्ति पुरुषार्थ तो केवल निज घर मे बसना ही है। अर्थात् आत्मा को आत्मा मे ही रहना है और कुछ नही करना है। आत्मा जब निज मे रहता है तब उसको अनन्त आनन्द का अनुभव होता है। आत्मा निज मे रहने का कर्त्ता है और निज मे रहना ही कर्म है।

इति आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ का ज्ञाता दृष्टा अधिकार समाप्त।

ओ चेतन तु स्वयं निकेतन निज सुख का कर वेदन।
तुझे पिलादू अमृत तजदे कर्म फलो का सेवन ॥१॥
दुख तेरा सब ही मिट जावे ना करे तेरा कोई बन्धन।
कर्त्तृत्व भाव यदि तू निकाल दे जिस कारण है बन्धन ॥२॥
सुख दुख की यह सभी कल्पना, है कर्मोदय कारण।
ध्यान सदा रख, निमित्त भाव रख, कर्त्ता स्वामी मत बन ॥३॥
यह सत्य है तेरे बल से तो हिले नही इक भी कण।
फिर कर्त्ता मैं हूं, करदे तू इस मिथ्याभिमान का खन्डन ॥४॥
रूप रहित तू, तेरे गुण हैं ज्ञान वीर्य सुख दर्शन।
निज गुण और स्वभावमयी बन, फिर न बनेगा बन्धन ॥५॥
निज गुण और स्वभावमयी बन, वश करले इन्द्रिय अरु मन।
सप्त तत्व श्रद्धानी बन कर, पावे सम्यग्दर्शन ॥६॥
रत्नत्रय स्वामी बनने से, कटे कर्म का बन्धन।
जब कर्मो को निज ना माने, क्यो बने कर्म से बन्धन ॥७॥
नव निर्माण छोड कर जो जन, तजे पूर्व के तन धन।
उस प्राणी ने तोड दिये बन्धन नव और पुरातन ॥८॥
इसी तरह कर्त्तृत्व भाव, जब तज देता है चेतन।
बन्धित कर्मो से हटा स्वय को, करदे सन्तति भन्जन ॥९॥
प्रभु कहे हे भव्य प्राणीयो ! मत करो कर्म से बन्धन।
पर कर्त्ता अरु स्वामी बनकर क्यो भ्रमण करो बन नन्दन ॥१०॥

आस्रव अधिकार

चार प्रकार के आस्रव है। मिथ्यात्व सबसे बडा आस्रव है–

आस्रव प्रत्यय हैं कहलाते, कर्मबन्ध के कारण हैं।
मिथ्यात्व अविरमण कषाय योग यह चार प्रकार कहाते हैं ॥८७॥

मिथ्यात्व हैं कारण सबसे भारी तत्व ज्ञान अवरोधक है।
सम्यग् दर्शन होने में भी यही एक अवरोधक है ॥८८॥

विपरीत और एकान्त विनय संशय अरु अज्ञान कहे।
पांच भेद मिथ्यात्व नाम के हटा इन्हे बन ज्ञानी रे ॥८९॥

मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग यह चार, कर्मों के आस्रव के निमित्त होने से आस्रव है। आस्रवो के निमित्त भूत, राग, द्वेष मोह है जो कि ज्ञान के अभाव मे अज्ञानी के होते है।

अनन्त संसार मे भ्रमण करने का मुख्य कारण मिथ्यात्व है। जब तक इस जीव को जीव, अजीव, आस्रव, सवर निर्जरा बन्ध और मोक्ष इन सात तत्वो का सम्यक् ज्ञान नही होता तब तक यह जीव मिथ्यात्वी कहलाता है। इन सात तत्वो का जब ज्ञान हो जाता है तब यह जीव स्व और पर जान लेता है। शास्त्रकारो ने ऐसा माना है कि जब मोहनीय कर्म की स्थिति अन्त कोडा कोडी सागर रह जाती है तब ही इस जीव को स्व, पर का ज्ञान होना सभव है, स्व, पर का ज्ञान होने पर यह तत्वार्थ ज्ञाता होता है और इसका मिथ्यात्व दूर होता है तथा यह सम्यग्दृष्टि बनता है।

मिथ्यात्व के पांच भेद है, विपरीत मिथ्यात्व, एकान्त मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, सशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व। हे भव्य जीव! तू पाचो मिथ्यात्वो को, पाचो मिथ्यात्वो के करणो को जान कर हटा दे और ज्ञानी बन जा।

मिथ्यात्व आस्रव का स्वरूप—

विपरीत मिथ्यात्व का विवेचन करते हैं।

आत्म द्रव्य ज्ञाता दृष्टा है, दर्शन और ज्ञान गुण हैं।
आत्म स्वभाव विपरीत जो माने, वह जग मे मिथ्यात्वी है ॥६०॥

ज्ञाता दृष्टा जो होता है वह कर्त्ता ना होता है।
आंखें देखें सभी वस्तुयें उनकी कर्त्ता वे ना हैं ॥६१॥

पुद्गल रूपी आत्म अरूपी पुद्गल तो चेतन ना है।
नहीं परस्पर कार्य के कर्त्ता निज स्वभाव परिणामी हैं ॥६२॥

जीव नाम का व्यवहार मे ससारी जीवो के लिये प्रयोग करते है। निश्चय से जीव आत्मा ही है ससार के सम्पूर्ण जीवो मे आत्मा विद्यमान है।

आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है उसके स्वय के गुण है और वे गुण ज्ञान और दर्शन नाम से कहे जाते है। आत्मा अपने गुणो के अनुसार ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला है। निज स्वभाव और गुणानुसार ही सम्पूर्ण द्रव्यो का परिणमन होता है, अत आत्मा जानने और देखने का ही कार्य करता है लेकिन ज्ञेय और दृश्य पदार्थ या कार्य का वह कर्त्ता नही है। जिस प्रकार आखें देखने का कार्य करता है पर दृश्य पदार्थों की कर्त्ता नही होती है। अत यह सिद्धान्त सत्य है कि जो ज्ञाता होता है वह कर्त्ता नही होता, लेकिन मिथ्यात्वी जीव तत्व ज्ञान मे रिक्त होने के कारण अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को भूलकर दृश्य व ज्ञेय पदार्थों का कर्त्ता या स्वामी बन जाता है, यह आत्मा के स्वभाव से विपरीत ज्ञान, विपरीत मिथ्यात्व कहलाता है। विपरीत मिथ्यात्व के कारण इस जीव को स्व और पर का ज्ञान भी नही होता। अत वह ससार के सम्पूर्ण पर पदार्थों को निज मानता है पर पदार्थों मे राग, द्वेष, मोह बुद्धि रखता है, जिसके कारण उन २ पदार्थों मे उसका बन्धन रहता है और इसी मोह के कारण ससार भ्रमण करता है।

पर्याय दृष्टि से राग, द्वेषादिक विकृतिया जीव कृत हैं द्रव्य दृष्टि से नहीं—

पर्याय दृष्टि से विकृति निज की, द्रव्य दृष्टि से भिन्न कही।
पर्याय दृष्टि और द्रव्य दृष्टि से जो जाने वह ज्ञान सही ॥६३॥

द्रव्य नित्य, पर्यायें नश्वर उत्पाद ध्रौव्य व्यय जिनसे है।
देव मनुज की पर्यायें हो पैदा होती नशती है ॥६४॥

मनुज पर्याय नष्ट जब होती देव अन्य वा होते हैं।
आत्म द्रव्य है सदा शाश्वत उत्पाद नाश जिसका ना है ॥६५॥

राग, द्वेष, मोह तथा क्रोधादिक विकृतिया हैं क्योकि यह आत्मा के स्वभाव से विपरीत हैं। आत्मा के शुद्ध स्वभाव मे पर पदार्थों मे ममत्व भाव नही है। क्योकि शुद्ध आत्मा अपने ज्ञाता दृष्टा स्वरूप को जानता है अत वह स्व को स्व और पर को पर रूप मे देखता है अत विकृतियो को पर रूप मे देखता है, क्योकि राग, द्वेषादिक विकृतिया मोहाच्छादित अज्ञानी आत्मा के पैदा होती है। जब आत्मा अपना उपयोग क्रोध मे लगाता है तब वह क्रोधी, राग में लगाता है तब रागी होता है तथा क्रोध रागादिक तत् तत् समय की पर्याय कहलाती है। जिस प्रकार अग्नि के निमित्त से ऊष्ण हुआ जल ऊष्ण कहलाता है उसी प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से क्रोधादिक उपयोग मे लगा हुआ आत्मा क्रोधी मानी आदि होता है।

द्रव्य दृष्टि से तो आत्मा ज्ञाता दृष्टा ही है, वह क्रोध का या राग का कर्ता नही हो सकता लेकिन अज्ञान के निमित्त से जब आत्मा क्रोधादिक मे लीन होता है तब वह क्रोधादिक विकृतिया आत्मा की निज मानी जाती है।

जिस प्रकार मद्य के नशे मे मनुष्य की सभी विकृत चेष्टाये उसकी स्वय की हैं लेकिन वे विकृतिया मद्य के नशे के कारण से है अत. वे विकृतिया नशा हटने के बाद ज्ञानी मनुष्य की नही कहलाती।

अत अज्ञान जनित पर्याय अवस्था मे विकृतिया आत्मा की कहलाती हैं शुद्ध अवस्था मे विकृतिया आत्मा की नही हैं। अत जो आत्मा को द्रव्य दृष्टि से और अज्ञान निमित्त से जनित पर्याय अवस्था से देखता है और जानता है, वह ज्ञान सत्य है।

द्रव्य तो नित्य है और पर्याये नाशवान है, देव मनुष्य तिर्यन्च नारकी आदि सब पर्याये है। इन पर्यायो मे रहने वाला आत्मा एक है। मनुष्य पर्याय को छोड़कर वही आत्मा देव पर्याय धारण कर लेता है, देव पर्यायि को छोडकर वही आत्मा मनुष्य अथवा तिर्यन्च, नारकी पर्याय धारण कर लेता है।

द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप होता है। वह पर्याय के कारण ही है। पर्याय का ही उत्पाद व व्यय होता है द्रव्य तो सदा शाश्वत है।

इस प्रकार द्रव्य गुण और पर्याय सब ही दृष्टियो से जो तत्व को समझता है उसके एकान्त मिथ्यात्व नही होता, लेकिन जो द्रव्य दृष्टि के बिना अथवा गुण पर्याय दृष्टि के बिना तत्व विवेचन करते हैं वे एकान्त मिथ्यात्वी कहलाते है।

पंच परमेष्ठी विनय करने के योग्य है—

विनय करो तुम श्री जिनवर का जिनको केवल ज्ञान हुआ।
आत्म दृष्टि से जग ज्ञाता का जिनने कर्म विनाश किये ॥१६॥

आचार्यों का विनय करो जो निज पर हित में लीन रहे।
वाणी और लेखनी द्वारा प्रभु वाणी सन्देश कहें ॥१७॥

उपाध्याय और सर्व साधु जो आत्म ज्ञान मे लीन रहें।
मार्ग प्रकाशक निज चर्या से उनका भी सब विनय करें ॥१८॥

प्रश्न—हम किसका विनय करें और किसका विनय न करे ?

उत्तर—निश्चय से तो अपनी शुद्ध आत्मा का विनय करना चाहिये अन्य किसी का नही। क्योंकि अरिहन्त सिद्ध व आचार्य तथा सच्चे साधु का जो भक्तिवश विनय किया जाता है वह राग कारक है, और राग बन्ध का कारण है, लेकिन यदि अरिहन्तादिक मे उनके गुणो के कारण उनका विनय किया जाता है वह ठीक है, क्योकि जो अरिहन्त सिद्ध को एक शुद्ध आत्मा के रूप मे देखता है और उनके बतलाये हुए मार्ग पर चल कर अपनी आत्मा को भी शुद्ध बनाता है उसका मार्ग ठीक है ऐसी स्थिति मे अरिहन्त सिद्ध जिन्होने आत्म दृष्टि से तीन लोक और तीन काल को जाना है उनका उनके गुणो को समझ कर विनय करना योग्य है।

लेकिन अन्ध भक्ति से उनका विनय करना और यह समझना कि भगवान हमको भी तार देंगे यह मिथ्यात्व है ऐसी भक्ति से कर्मो का ही बन्ध होता है, और भगवान से धन पुत्रादिक मागना और उनकी भक्ति करना अशुभ कर्म का बन्ध करना ही है।

अत पाचो ही परमेष्ठियो का विनय उनमे स्थित गुणो के कारण ही करना चाहिये अन्य किसी कारण से नही।

जिन वाणी और उसको भिन्न भिन्न विधि से प्रकाश मे लाने वाले विनय के योग्य है—

प्रभु वाणी सन्देश जहां है उस आगम का विनय करो।
चैत्यालय और तीर्थ क्षेत्र को बारम्बार प्रणाम करो ॥९९॥
जो विद्वज्जन प्रभु वाणी को जग हित सबको समझावें।
लिपि बद्ध करें उसको ही उनका भी सब विनय करें ॥१००॥

भगवान की वाणी गणधरो के द्वारा जन साधारण को समझायी जाती है। वह वाणी ही सच्चा आगम कहलाता है। वह आगम मौखिक या लिपिरूप मे जिस तरह भी हो उसका विनय करना चाहिये, क्योंकि आगम के स्वाध्याय से आत्मा का हित होता है।

चैत्यालय और तीर्थक्षेत्रो मे भगवान के बिम्ब के दर्शन करने को मिलते है। इस पन्चम काल मे भगवान के बिम्ब मे जो साक्षात् अरिहन्त और सिद्ध को देखता है उनका विनय करता है, उसके निश्चित ही पुण्य बन्ध होता है। और जो साक्षात् अरिहन्त सिद्ध के बिम्ब मान कर उनके गुणो को अपने आप मे अवतरित करता है उसके कर्मो की निर्जरा भी होती है। अतः चैत्यालय और तीर्थ क्षेत्र भी विनय के योग्य है।

जो विद्वान् भगवान की मौखिक या लिपिबद्ध वाणी को सब को समझाते है, प्रवचन करते है तथा भगवान की वाणी को जग के हित के लिये लिपि बद्ध करते है वे भी जन हितकारक भावना से विनय के योग्य है।

इस तरह किया हुआ विनय, मिथ्यात्व नही होता बल्कि सम्यक्त्व होता है।

जिनको आत्म ज्ञान नही है वे विनय के योग्य नही है—

लेकिन जो जन मिथ्या बोलें आत्म ज्ञान का ध्यान नहीं।
उनका विनय मिथ्यात्व नाम है अत विनय के योग्य नहीं ॥१०१॥
विषयों के वश भेष बदल लें मन में समता भाव नही।
रागी द्वेषी बनकर डोलें विनय वहां मिथ्यात्व सही ॥१०२॥

लेकिन जो जन मिथ्या भाषण करते है, क्रोधादिक कषायों मे लीन रहते है, आत्म ज्ञान प्राप्ति हित न तो उद्यम करते है और न आत्मा मे उनकी रूचि है ऐसें आदमियो का या मुनियो का विनय करना विनय मिथ्यात्व कहलाता है, ऐसे साधु और गृहस्थ दोनो ही विनय के योग्य नही है।

ऐसे जीव विषयो के वश होकर भेष बदलते रहते है। उनमे समता भाव भी नही होता अत कषाय और राग द्वेष युक्त होते है। ऐसे गृहस्थो और मुनियो का विनय मिथ्यात्व ही है।

तत्व के अज्ञानी जिन वाणी मे शका करते हैं—

जिन वाणी और जिन आगम में जिनके शंका रहती है।
तत्व ज्ञान पूर्ण ना उनके वे सब ही मिथ्यात्वी हैं॥१०३॥

जिनवाणी तीर्थंकर वाणी को कहते है। तीर्थं करो को दिव्य ध्वनि को सुनकर गणधर अर्थ विचारते है और फिर जन साधारण को समझाते है। श्रुत केवली भी भगवान की दिव्य ध्वनि को ही समझाते है। अत. वर्तमान समय मे जो भी जिन आगम है वह भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि का सार बतलाने वाला है। आचार्य भगवान कुदकुद अपनी दिव्य शक्ति के द्वारा विदेह क्षेत्र मे सीमन्धर भगवान के समवशरण मे गये और वहा सात दिन रह कर भगवान से दिव्य ज्ञान प्राप्त किया, उन्होने वापिस भरत क्षेत्र मे आकर समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थो की रचना की ये भी साक्षात् जिन आगम ही है। सम्पूर्ण जिन आगम मे चाहे वह षट् खण्डागम हो और चाहे समयसार हो सब मे सात तत्व, नव पदार्थ, पच अस्तिकाय व षट् द्रव्यो का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस जिनागम मे तत्व ज्ञान पूर्ण न होने के कारण अथवा श्रद्धान न होने के कारण जिस किसी भी प्राणी के शंका रहती है उनमे सशय मिथ्यात्व रहता है अत उनको मिथ्यात्वी कहा गया है। श्रद्धान मे कमी भी ज्ञान की कमी से ही होती है और जिनके तत्व ज्ञान की कमी है वह ही जिनागम मे शका रखते है। अत. उन्हे मिथ्यात्वी कहा गया है।

तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन (तत्वार्थ सूत्र)

इदमेव ईदृशमेव तत्वम् नान्यन चान्यथा।
इति कम्पाय साम्भोवत् सन्मार्गेऽसशयारूचि।

रत्न करड श्रावकाचार

अज्ञान मिथ्यात्व का मूल है—

अज्ञान बड़ा ही अवगुण है तत्व ज्ञान अवरोधक है।
अत तत्व अज्ञानी को मिथ्यात्वी जिनवर कहते हैं॥१०४॥

अशुद्ध स्वर्ण अग्नि संग पिघले नीली शिखा ताम्र की है।
फिर भी ताम्र नाम नहीं होता कहें शिखा स्वर्ण की है ॥१०५॥
सभी विभाव मोह के कारण, अज्ञानी निज के माने।
असत् बुद्धि से बन्ध जीव का श्री जिनवर ऐसा मानें ॥१०६॥
मधुर आम्र पर अम्ल आम्र का यदि पेबन्द चढ़ाया हो।
फल उसके सब अम्ल ही आवें दोष मधुर का किस विध हो ॥१०७॥
पर अज्ञानी भेद न जाने जड़ को ही दोषी माने।
इसी तरह अज्ञानी प्राणी क्रोधादिक निज के माने ॥१०८॥

अब अज्ञान मिथ्यात्व का विवेचन करते हैं।

अज्ञान अर्थात् ज्ञान का अभाव—जहां ज्ञान का अभाव है वहां तो तत्व ज्ञान होने का प्रश्न ही नही उठता। अत. तत्व अज्ञानी को जिन प्रभु ने मिथ्यात्वी कहा है।

जिस स्वर्ण मे ताम्र मिला हुआ हो उसको जब अग्नि मे पिघलाया जाता है तो उसमे कुछ नीली कुछ पीली कुछ मिश्रित शिखा निकलती है। नीली शिखा ताम्र के कारण से होती है लेकिन जो स्वर्ण और ताम्र का भेद ज्ञानी नही है वह नीली शिखा को भी स्वर्ण की ही कहता है। इसी प्रकार राग द्वेष मोह व क्रोधादि विभाव मोहनीय कर्म के उदय से होते है लेकिन जो वस्तु तत्व को नही जानता वह विभावो को निज कृति मानता है, इस तरह इन विभावों का कर्ता बनने के कारण वह कर्म बन्ध करता है।

उदाहरण के लिये मधुर आम्र पर अम्ल आम्र का पेबन्द चढा दिया जावे तो उस वृक्ष के जो आम लगेंगे वे सब खट्टे ही होंगे। खट्टे आमों की उत्पत्ति का कारण खट्टे आम का पेबन्द है न कि वह जड़ जो कि मीठे आम की है। फिर भी अज्ञानी जड और पेबन्द मे भेद न जानने के कारण जड को ही दोषी मानते हैं।

इसी प्रकार राग द्वेष मोह व क्रोधादिक विभाव स्पष्ट रूप से मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। क्योकि मोह के उदय से या आवरण से अज्ञान, अज्ञान के निमित्त से कर्ता कर्म प्रवृत्ति, कर्ता कर्म प्रवृत्ति के निमित्त से राग द्वेष और राग द्वेष के निमित्त से कर्म बन्ध होता है।
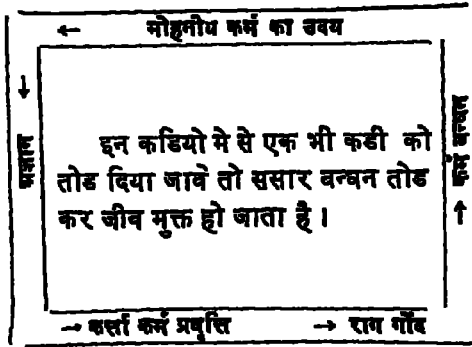
कषायो का वर्णन—अनन्तानुबन्धो कषाय मिथ्यात्वी बनाती है—

क्रोध मान मायाचारी अरु लोभ कषाय चार विध है।
भावों की तरतमता से ये सभी कषाय चार विध हैं ॥१०९॥

अनन्तानुबन्धी मिथ्यात्व मूल अनन्त संसार का कारण है।
अनन्त भवो तक संस्कार टिकने का यह ही कारण है ॥११०॥

अनन्तानुबन्धी जब तक है रहती मिथ्यात्वी कहलाता है।
मिथ्यात्व कलंक दूर तब ही हो जब इसका क्षय होता है ॥१११॥

अब कर्म बन्ध के द्वितीय कारण कषाय का विवेचन किया जाता है—

कषाय चार तरह की मानी गई है। १—क्रोधकषाय २—मान कषाय ३ माया कषाय और ४—लोभ कषाय। इन चारो कषायो के भी एक एक के चार चार भेद होते है।

१—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ।
२—अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ।
३—प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ।
४—सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

अनन्तानुबन्धी कषाय से तात्पर्य है कि जो कषाय अनन्तभवो तक सस्कार रूप मे रह सकती है। जो क्रोध मान माया लोभ इन चारो मे से एककी भी गाठ बाध कर रखते है, ऐसे जीव जन्म जन्मान्तर तक वैर का त्याग नही करते, मायाचारी नही छोडते, लोभ, मान, को सजोये रखते है।

अप्रत्याख्यान कषाय के कारण वह जीव छह महिने तक उस कषाय की गाठ रख सकता है। प्रत्याख्यान कषाय के कारण वह पद्रह दिन तक कषाय से प्रभावित रह सकता है। और संज्वलन कषायधारी एक अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा कषाय नही रखते।

अप्रत्याख्यान वगैरह कषायो का स्वरूप—

अप्रत्याख्यान के उदय काल में संयम ना हो पाता है।
अणुव्रत पालन नहीं होने में निमित्त यह बन जाती है ॥११२॥

अप्रत्याख्यान का ग्रन्थि काल षट् मास अवधि रह सकता है।
सम्यग्दर्शन होने पर भी अविरत वह कहलाता है ॥११३॥

प्रत्याख्यान की अवधि पक्ष है अपना असर दिखाती है।
महाव्रत पालन नहीं होने मे निमित्त यह बन जाती है ॥११४॥

संज्वलन है जल रेखा वत् अल्प समय मे नशती है।
यथाख्यात चारित्र पालने मे बाधा बन रहती है ॥११५॥

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का जब उदय रहता है तब यह जीव सयम का पालन नही कर पाता, अत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शीलव्रत व अपरिग्रह का एक देश भी पालन नही होता, सम्यग्दर्शन होने पर भी वह चतुर्थ गुण स्थान से आगे नही बढ पाता उसको अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। जिस कषाय की ग्रन्थि अधिक से अधिक छह माह मे समाप्त हो जाती है, वह कषाय अप्रत्याख्यान कहलाती है।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय के उदय काल मे महाव्रतो का पालन नही होता, अत वह जीव पन्चम गुणस्थान से आगे नही बढ सकता। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील व्रत, अपरिग्रह इन व्रतो का पूर्ण पालन होने पर ही छठा गुणस्थान होता है। जिस कषाय की ग्रन्थि एक पक्ष से ज्यादा नही रहती वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान माया, लोभ है।

सज्वलन कषाय जल रेखावत् है, अत. अन्तर्मुहूर्त मे ही नष्ट हो जाती है इसकी अवधि एक अन्तर्मुहूर्त है।

जब तक सज्वलन कषाय व अन्य सभी कषाये नष्ट नही होती तब तक यथाख्यात चारित्र का पालन नही होता। यह स्थिति दशवें गुण

स्थान के अन्त तक रहती है। सज्वलन कषाय की समाप्ति होते ही जीव बारहवें गुण स्थान मे पहुँच जाता है।

कषायो की समाप्ति चारित्र मोहनीय कर्म की समाप्ति है जिसके समाप्त होने पर एक अन्तर्मुहूर्त के बाद केवलज्ञान पैदा हो जाता है। अत यह चारित्र मोहनीय कर्म ही ज्ञान का सबसे बडा आवरण है।

नो-कषाय का वर्णन--

हास्य रति अरु शोक अरति है भय जुगुप्सा नामी हैं।
नपुंसक स्त्री पुरुष वेद सब मिलकर नव संख्या मे हैं ॥११६॥
यह नोकषाय नव संख्या में यह अल्प मलिनता कारक हैं।
सोलह कषाय नव नोकषाय सब मिलकर पञ्चविंशति हैं ॥११७॥

हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा, (दूसरे से घृणा करना) पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुसक वेद, इस तरह यह नोकषाय नो प्रकार की होती है। यद्यपि ये भी सब कषाये है। ये भी कर्म रूपी खेत का कर्षण ही करती है और ससार को बढाती है। जिस प्रकार किसान खेत को जोत कर बीज बोता है तो वह खेत खूब सरसब्ज होता है। उसी प्रकार कषाय भी ससार बीज को पल्लवित कर उसको बढाती हैं।

असयम भी आस्रव का कारण है—

इन्द्रिय अरु प्राणी दो भेद असंयम के बतलाये हैं।
पन्चेन्द्रिय मन वश में करलो संयम गुण अति गाये हैं ॥११८॥
रूप गन्ध और वाणी से जो मोह जाल में फंसता है।
स्पर्शन में सुख दुख माने रसास्वाद गृध्रता है ॥११९॥
वह असंयमी विषयो का है मन भी उसका चन्चल है।
इन्द्रिय विषयों की उलझन से जग मे उसकी चल चल है ॥१२०॥

कर्मों के आस्रव का तृतीय कारण असयम माना है। इन्द्रिय असयम और प्राणि असयम के भेद से वह दो प्रकार का है। पन्चेन्द्रिय और मन के भेद से इन्द्रिय असयम छह प्रकार का है। त्रस तथा पन्च स्थावरो के भेद से प्राणी असयम भी छह प्रकार का है।

असयम, जीव के दूषित भावो से ही होता है वह अपने स्वार्थों के कारण जीवो की हिंसा करते है और हिंसानन्दी बन कर कर्मों का

तीव्र बन्ध करते है। काम वासना से अन्धे मनुष्य स्त्रियों का रूप देख कर मोहित होते हैं और शील व्रत का भग कर समाज में अव्यवस्था फैलाते हैं। मधुर गान व वाद्य सुनकर आकर्षित होना, इत्र व पुष्प की गन्ध से आकर्षित होना ये सभी कर्म बन्ध के कारण हैं, भोजन करते समय मधुर अम्लादि रसो मे गृध्रता रखना, कोमल स्पर्श मे सुख और खर स्पर्श मे दुख मानना यह सब इन्द्रिय असंयम है।

आत्मज्ञानी मन और इन्द्रियो को वश मे रखता है।—
आत्मज्ञानी ही आस्रव से बचता है।

आत्मज्ञान ही एक शस्त्र है जो मन वश में करता है।
इन्द्रिय विषयों में ना फंसकर निज स्वरूप में बसता है ॥१२१॥

निज आत्म मे श्रद्धा जिसकी निज आत्मा अनुभूति जिसे।
निज आत्मा मे स्थित जो हो श्रेष्ठ संयमी कहें उसे ॥१२२॥

निजात्म स्थिति ही मानव को सच्चारित्री बना सके।
निजात्मा का वासी मानव सभी विकृति भगा सके ॥१२३॥

निजात्म स्थिति जब हो जाती तब कर्मों का क्षय होता।
निश्चय से वह सम्यक् दृष्टि मोक्ष महल को है पाता ॥१२४॥

निजात्म स्थिति से आस्रव भी बन्ध नहीं कर पाता है।
निजात्म स्थिति शस्त्र वह जो संतति कर्म मिटाता है ॥१२५॥

पाच इन्द्रियां और मन को वश मे करने का उपाय बतलाते हैं—

जब इस जीव को स्व और पर का ज्ञान हो जाता है, वह अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जानकर ज्ञाता दृष्टा बन जाता है, वह देह मन वाणी और इन्द्रियो को भी पर मानता है तथा सकल्प-विकल्पो से दूर रहता है, वह स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और नासा इन्द्रियो के विषयो का उपयोग अनासक्त भाव से करता है। वह समझता है कि जो विषयो के उपयोग के भाव उत्पन्न होते है वे सभी कर्मोदय के निमित्त से है। तथा जिस समय जिस विधि से इस पौद्गलिक शरीर के साथ जिन भोजन पान वस्त्र आदि का जिस विधि से सयोग होना है वह हो रहा है, अत वह ऐन्द्रियिक विषय और ऐन्द्रियिक विषय सम्बन्धी भाव दोनो को ही पर मानता है तथा ज्ञाता दृष्टा बन कर अपने आत्मा मे स्थित रहता है। प्रतिक्षण आत्म स्थिति का ही प्रयत्न करता है।

स्व और पर का भेद ज्ञान होने के बाद जिसकी निज आत्मा मे पूर्ण श्रद्धा होगई हो तथा आत्म श्रद्धा के साथ ही आत्म परिचय भी हो गया हो उसे निज अनुभूति हो जाती है। निज अनुभूति कर जो निज आत्म मे ही स्थित हो जाता है उसको श्रेष्ठ सयमी कहते हैं। निज आत्म स्थिति से सद् चारित्र स्वत पालन होता है तथा राग, द्वेष मोहादिक विकृतियो का वह केवल ज्ञाता बन कर रहता है । ऐसी स्थिति मे मिथ्यात्व तो उससे कोसो दूर भाग जाता है और वह ज्ञानी पुरुष अति शीघ्र मोक्ष महल का वासी बन जाता है अर्थात् सिद्ध हो जाता है । निजात्म स्थिति होने के बाद कोई भी बन्धन कारक कारण नही बन सकता अत आत्म स्थिति ही वह शस्त्र है जिससे कर्म सन्तति भग होकर निर्वाण प्राप्त होता है।

प्राणी असयम—

त्रस स्थावर की संकल्पी हिंसा जीव असंयम है।
द्विइन्द्रियादिक त्रस होते हैं स्थावर पांच तरह के हैं॥१२६॥
त्रस स्थावर कहने से कोई भेद नहीं हो जाता है।
आत्मा सब में एक तरह का ज्ञानी यह समझता है॥१२७॥
हिंसा का संकल्पी बनना चाहे वह एकेन्द्रिय हैं।
है असंयम यह वह जो आत्म मलिनता कारक है॥१२८॥

प्राणी असंयम का विवेचन करते है—

पाच तरह के स्थावर होते है—पृथ्वी कायिक, जल कायिक, वायु कायिक, अग्नि कायिक व वनस्पति कायिक। त्रस जीव भी पाच तरह के होते हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पन्चेन्द्रिय सज्ञी और पन्चेन्द्रिय असज्ञी।

जीव चाहे एकेन्द्रिय हो और चाहे पन्चेन्द्रिय सज्ञी हो आत्मा की दृष्टि से दोनो मे भेद नही है। अत दोनो की ही हिंसा हेय है तथा संकल्प करके हिंसा करना कर्म बन्ध का ही कारण है। अन ज्ञानी एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय और पन्चेन्द्रिय की दृष्टि से न देख कर आत्म दृष्टि से सब को समान मानता है । जिस प्रकार तीव्रतम नशा करने वाले के मुंह पर कुत्ते भी मूत्र त्याग करें तो भी ध्यान नही आता, तथा एक अल्प नशा करने वाला होता है जिसे कुछ कुछ सब तरह का ध्यान रहता है।

दोनो की मानव सज्ञा मे भेद नही है। उसी तरह एकेन्द्रिय तीव्र मोह से आच्छादित होने से तीव्र अज्ञानी है और पन्चेन्द्रिय सज्ञी कम मोह से आच्छादित होने से कम अज्ञानी है लेकिन दोनो की आत्मा मे कोई भेद नही है।

जो जितना अधिक मोह और माया मे लिप्त है वह ऐसी गति प्राप्त करता है जहा हिताहित का ध्यान नही रहता और दु ख की मात्रा अत्यधिक होती है।

अत हे ज्ञानी प्राणी ! तुम कभी भी किसी भी तरह के जीव की हिंसा का सकल्प मत करो। कम से कम आरम्भ परिग्रह करते हुए साव-धांनी पूर्वक सम्पूर्ण क्रियाये करो।

योगो का स्वरूप—

मन, वच, काय यह तीन योग हैं भेद पन्चदश इनके हैं।
इनको ज्ञाता सम्यक् जाने, जान नियन्त्रण करते हैं ॥१२६॥

योग का लक्षण गोम्मटसार से—

पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मो के ग्रहण करने मे कारण भूत शक्ति है उसको योग कहते है।

योग तीन प्रकार के होते है। मनोयोग, वचन योग, और काय योग।

आत्मा की अनन्त शक्तियो मे एक योग शक्ति भी है, उसके दो भेद है एक भाव योग और दूसरा द्रव्य योग। पुद्गल विपाकी आगोपाग नाम कर्म और शरीर नाम कर्म के उदय से मन, वचन, काय पर्याप्ति जिसकी पूर्ण हो चुकी है और जो मनो वाक् काय वर्गणा का अवलम्बन रखता है ऐसे ससारी जीव की जो समस्त प्रदेशो मे रहने वाली कर्मो के ग्रहण करने मे कारणभूत शक्ति है उसको भाव योग कहते हैं और इस ही प्रकार के जीवो के प्रदेशो का जो परिस्पन्दन होता है उसको द्रव्य योग कहते हैं। यहा कर्म शब्द से कर्म और नोकर्म दोनो को ग्रहण करने वाला योग होता है ऐसा समझना चाहिये।

मन और वचन योग सत्य असत्य उभय और अनुभय भेद से चार प्रकार के होते है।

सम्यग्ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को सत्य कहते है जैसे यह जल है। मिथ्या ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को असत्य कहते है जैसे मरीचिका को कहना कि यह जल है। दोनो के विषयभूत पदार्थ को उभय कहते है। जैसे कमण्डलु को घट कहना-वह घट नही है फिर भी घट का काम देता है। जहा सत्य का कुछ भी निर्णय न हो उसको न सत्य और न असत्य कह सकते हैं। वह अनुभय है।

काययोग—औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्माण—

औदारिक शरीर—मनुष्य और तिर्यन्चो का शरीर वैक्रियिक आदि शरीरो की अपेक्षा स्थूल होता है इसको उदार या उराल कहते हैं और इसके द्वारा होने वाला शरीर औदारिक शरीर कहलाता है।

वैक्रियिक शरीर—नाना प्रकार के गुण और ऋद्धियो से युक्त देव तथा नारकियो के शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते है।

औदारिक मिश्र—औदारिक शरीर जब तक पूर्ण नही हो जाता तब तक वह औदारिक मिश्र शरीर होता है।

वैक्रियिक मिश्र—जब तक वैक्रियिक शरीर पूर्ण नही होता तब तक इसको वैक्रियिक मिश्र कहते हैं।

आहारक—आहारक ऋद्धि वाले छट्टे गुणस्थानवर्ती तीर्थंकरो केवली व श्रुतकेवली से शका दूर करने हेतु अथवा वन्दना हेतु एक हस्त प्रमाण चन्द्रकान्त मणी के समान सफेद रसादिक धातु और सहननो से रहित शुभ नाम कर्म के उदय से शुभ अवयव शिर मे से निकलता है।

आहारक मिश्र—

जब तक यह शरीर पर्याप्त नही होता तब तक आहारक मिश्र कहलाता है।

आगम ज्ञान सहारा तेरा विधि तत्वो का चिन्तन है।
तत्वो का चिन्तन कर प्रतिक्षण मक्खन मन्थन का फल है॥
भावागम है स्वय आत्मा ज्ञान नाम आत्मा का है।
आत्म तत्व को जो नर पावे वह स्वयभू जग का है॥

कार्माण—ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मों के समूह को अथवा कार्माण शरीर नाम कर्म के उदय से होने वाली काय को कार्माण काय कहते हैं।

आस्रव आत्मा के स्वभाव से विपरीत है—

इस विधि कुल सत्तावन प्रत्यय आस्रव के कारण बनते।
शुद्ध आत्म से भिन्न जान कर ज्ञानी इनसे हैं बचते ॥१३०॥

स्व स्वभाव विपरीत हैं आस्रव अपवित्र और दुख के कारण।
आत्म द्रव्य तो अति पवित्र है, है निज के सुख का कारण ॥१३१॥

इस प्रकार जिनागम मे आस्रव के सत्तावन भेद बतलाये हैं। लेकिन सम्पूर्ण आस्रव और आस्रव के कारण शुद्ध आत्मा से भिन्न है। समयसार प्रकाश मे लिखा है—

मैं हू आत्मा ज्ञान स्वरूपी आस्रव मुझ से भिन्न है।
इस भेद को जो नही जाने क्रोधाधिक मे लीन है॥

क्रोधाधिक मे लीन पुरुष के कर्मों का सचय होवे।
कर्म बन्ध फिर इससे होता निश्चय से सर्वज्ञ कहे॥

इससे स्पष्ट होता है कि आस्रव आत्मा से भिन्न है। भिन्न होने मे आचार्य प्रभु ने लिखा है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है अत पवित्र है आत्मा चेतन स्वरूप तथा उपयोग लक्षण वाला है। आस्रव दुख के कारण हैं अत. अपवित्र है। आस्रव अज्ञान के कारण हैं तथा न चेतन है और न उपयोग लक्षण युक्त है अत आस्रव और आत्मा मे रात और दिन जितना भेद है।

कर्मोदय से जो भाव पैदा होते हैं वो अज्ञानी उनको निज कृति मानता है अत. कर्म बन्ध होता है—

कर्मोदय भावों के जो अज्ञानी स्वामी बनते हैं।
स्वामी बन कर रागी बनते उससे बन्धन होते हैं ॥१३२॥

जन्म काल से मृत्यु काल तक कर्मोदय से सुख दु:ख है।
अज्ञानी उन कर्म फलों मे निज कर्तृत्व समझते हैं ॥१३३॥

कर्त्ता भाव राग का कारण राग बन्ध को करे सदा।
ज्ञाता दृष्टा जो बन रहते वे बन्धन से बचें सदा ॥१३४॥

प्रतिक्षण शुभ या अशुभ कर्म का उदय होता रहता है, कर्मोदय के निमित्त से सुख या दुख परिणाम वाले भाव उत्पन्न होते है। उन भावो को और भावो के परिणामो को ज्ञानी कर्मोदय जनित मान कर उनको पर मानता है उनका कर्त्ता या स्वामी नही बनता वह राग, द्वेष, मोहादिक से दूर रहने के कारण कर्म बन्ध मे नही फसता। लेकिन अज्ञानी जीव कर्मोदय जनित भावो के और उनके परिणामो के कर्त्ता और स्वामी बन जाते है, जिससे इष्ट अनिष्ट कल्पना द्वारा राग, द्वेष पैदा होते है जिससे वे कर्म बन्धन मे फंस जाते है।

अत हे भव्य जीवो ज्ञानी बनो और अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को ज्ञान कर कर्मोदय जनित भावो और भावो के फलो के केवल ज्ञाता दृष्टा बन कर रहो।

पूर्व बद्ध कर्म भी अचेतन होने के कारण चेतन आत्मा से भिन्न है कर्मोदय से होने वाले सुख दुख सुनिश्चित है—

पूर्व कर्म जो ज्ञानी के हैं मिट्टी ढेले सम सारे।
पुद्गल हैं वे और पौद्गलिक कार्माण से बंधे हुए ॥१३५॥
आत्मा चेतन वे पुद्गल हैं पुद्गल चेतन भिन्न सदा।
अतः भाव जो पूर्व बद्ध से वे भी होते भिन्न सदा ॥१३६॥

जीव के जो पूर्व बद्ध कर्म है उनका जीव के साथ बन्ध नही है वे कार्माण शरीर से बधे हुए हैं। ऐसा ज्ञान रखने वाले ज्ञानी के पूर्व बद्ध कर्म मिट्टी के ढेले के समान है। कर्म पुद्गल है अत पौद्गलिक कार्माण शरीर से ही उनका बन्धन है जीव के साथ नही।

आत्मा चेतन है कर्म पुद्गल है। पुद्गल चेतन से सदा भिन्न है अत पूर्व बद्ध कर्म के उदय से जो भाव बनते है वे आत्मा से भिन्न है। आत्मा का परिणमन ज्ञान रूप ही है पुद्गल रूप नही है।

कारण और कार्य, क्रमबद्ध पर्याय के अनुसार पूर्व निश्चित होने से तू उनका कर्त्ता नही है—

कारण बिन नहीं कार्य हैं बनते भाव निमित्त हैं कार्यों के।
कार्य सुनिश्चित जब जग में हैं भाव सुनिश्चित स्वतः बने ॥१३७॥
उदित कर्म वश भाव बनत हैं भाव नहीं निज मान कदा।
भाव सुनिश्चत जब तेरे हैं कर्त्ता भाव तू छोड़ सदा ॥१३८॥

कर्म सन्तति येन भंग हो कर्त्ता भाव हटाने से।
संसार भ्रमण का भंग जीव का, तत्व ज्ञान यह पाने से ॥१३६॥

कार्य के होने मे उपादान कारण और निमित्त कारण होते है। निमित्त कारण आत्मा के भाव है। ससार के सभी कार्य सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान मे जिस प्रकार और जिस विधि से जिस क्षेत्र और काल मे होना निश्चित पाया गया है वह कार्य उसी विधि से उसी क्षेत्र और काल मे अवश्यमेव होगा। अत जब कार्य सुनिश्चित है तो भाव भी सुनिश्चित ही है। भाव कर्मोदय के निमित्त से बनते हैं अत भावो का कर्ता बनना छोड दे। कर्त्ता भाव हटाने से राग उत्पन्न नही होता और इस तरह से कर्त्ता भाव के हटाने से कर्म सन्तति भग हो जाती है। कर्म सन्तति भग होने से ससार का भ्रमण मिट जाता है, अत. इस ज्ञान को प्राप्त करो।

आत्मा केवल ज्ञान भाव का स्वामी है—

ज्ञान भाव हैं निश्चित तेरे ज्ञान भाव का तू स्वामी।
अन्य भाव हो किस विध तेरे जिनका तू ना परिणामि ॥१४०॥
प्रकाश परिणमन सूर्य देव का तेज परिणमन भी उसका।
जिस जग को यह सूर्य प्रकाशे ना कर्त्ता वह है उसका ॥१४१॥

हे भव्य जीव तू ज्ञान मय है अत तेरा परिणमन भी ज्ञान ही है और जो तेरा परिणमन है तू उसका कर्त्ता व स्वामी है। जो राग, द्वेष मोहादि भाव है, वे सब अज्ञान मय है, तेरा परिणमन ज्ञान है अज्ञान नही। सूर्य का परिणमन प्रकाश है अन्धकार नही है, अत ज्ञान भाव के अलावा जो भाव बनते है वे सब कर्मोदय जनित है अत तू उनका परिणमन कर्त्ता नही है, अत. उन भावो का तू स्वामी भी नही है। अत जिस प्रकार तेज और प्रकाश के अलावा शीत और अन्धकार सूर्य परिणमन नही हो सकते उसी तरह अज्ञान अवस्था के परिणमन तेरे नही हो सकते।

तू अज्ञान से पर को निज मानता है। तू निज वैभव का अज्ञानी तुझ को ज्ञान नही है—

प्राणी तू अज्ञानी ऐसा जिसको जाने निज माने।
ज्ञेय तुम्हारा तीन लोक है किस विधि उसको निज माने ॥१४२॥

पर में जो निज बुद्धि है तेरी तेरा जग में बन्ध करे।
जब तक बुद्धि शुद्ध बने नहीं तू मुक्ति को नहीं वरे ॥१४३॥
तू केवल है निज का स्वामी वैभव तेरा अपरम्पार।
निज वैभव को यदि तू जाने तेरा होवे बेड़ा पार ॥१४४॥

हे ससार मे परिभ्रमण करने वाले जीव तू अज्ञानी है तू अज्ञान के कारण से अपने ज्ञेय पदार्थो का स्वामी बन जाता है। हे भव्य जीव यह तीन लोक ही तुम्हारा ज्ञेय है तू उसको निज किस प्रकार मानता है? अनादि काल से तू इस ससार मे भ्रमण कर रहा है' जो तेरे गुण है जिनके कारण तेरा ज्ञायक स्वभाव है वह तेरे है किसी भी द्रव्य या पदार्थ के स्वभाव और गुण ही उसमे नित्य रुप से रहते है क्योकि वे ही उसके निज हैं। तेरे ज्ञान और दर्शन गुण ही तेरे है, तू जिन पदार्थो को देखता या जानता है वे पदार्थ तेरे नही हो सकते क्योकि वे न तो तेरे प्रदेश है और न स्वभाव और गुणानुरूप है। तेरे असंख्येय प्रदेशो मे एक एक प्रदेश तेरा है लेकिन अन्य कोई भी वस्तु तेरी नही है। अत पर वस्तुओ मे जो तेरी निज बुद्धि है वह तेरा अज्ञान है मिथ्यात्व है। जब तक तू स्व और पर का भेद नही जानेगा तेरी बुद्धि शुद्ध नही होगी और जब तक आत्मा शुद्ध नही होगा तब तक तू कर्म बन्धन से मुक्त नही हो सकता। तू केवल निज का ही स्वामी है, तेरा वैभव अपरम्पार है। तू अनन्त चतुष्टय का स्वामी है, तू अपने वैभव को पहचान जिससे तेरा बेडा पार हो।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र पूर्ण रूपता प्रदान करते है।—

दर्शन ज्ञान चारित्र तीन यह जब तक पूर्ण नहीं होवे।
पूर्ण शुद्धता ना होने से पूर्ण रूप नहीं आवे ॥१४५॥
इन तीनो के पूर्ण हुए बिन बन्ध जीव का हुआ करे।
अत ज्ञान से मत हट ज्ञानी पूर्ण रूपता को पा रे ॥१४६॥

मैं आत्मा हू, मेरे गुण ज्ञान और दर्शन है मेरे गुणो के अनुरूप मेरा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव है, मैं अरस, अरूपी, अस्पर्शी, गन्ध हीन एवं अशब्द हूं, मैं असख्येय प्रदेशी हूं। निगोद अवस्था मे सूक्ष्म से सूक्ष्म शरीर धारण किया, नारकी बन कर बहुरूपिया शरीर धारण किया तिर्यन्च बन कर अनेक योजनो का भी शरीर धारण किया। देव बन कर अनेक ऋद्धिधारी बना। मनुष्य शरीर मे भी कभी स्त्री कभी पुरुष कभी

नपु सक कभी ठिगना कभी लम्बा कभी बौना आदि रूप प्राप्त किये। एकेन्द्रिय बन कर कभी पर्वत बन कर विशाल शरीर धारण किया कभी वायु कायिक, कभी अग्नि कायिक और कभी वनस्पति कायिक व कभी जल कायिक शरीर धारण किये, लेकिन मेरे असख्येय प्रदेशो मे न तो एक भी प्रदेश कम हुआ और न बढा। मेरे गुणो मे भी न तो कोई गुण कम हुआ और न बढा मेरे स्वभाव मे कभी कोई परिवर्तन नही हुआ। राग, द्वेष, मोह, क्रोधादिक विभाव जो पर के निमित्त से पैदा हुए उनसे मेरा नित्य स्वभाव हमेशा ही पृथक् रहा। जिस प्रकार अग्नि के सयोग से जल के शीतल स्वभाव के लिये विपरीतता व्यवहार मे कहने मे आती है परन्तु अग्नि के पृथक् होते ही जल के स्वभाव मे पुन. वह ही स्वभाव देखने को मिलता है अर्थात् जल मे पर के निमित्त से विभाव उत्पन्न हुआ लेकिन जल और अग्नि को पृथक्-पृथक् देखने पर, जल ने अपने शीतल स्वभाव को कभी नही छोडा ऐसा देखने मे आता है, इसी प्रकार मोह के निमित्त से आत्मा मे राग द्वेषादिक विभाव देखने मे आते हैं, पर विभावो को पृथक् रूप मे देखने पर आत्मा का ज्ञाता दृष्टा स्वभाव ही देखने मे आता है, अत मोह के हट जाने पर आत्मा ज्ञान और दर्शनमय एव ज्ञाता दृष्टा अनन्त चतुष्टय के वैभव से युक्त ही है।

इस प्रकार स्व और पर का भेद जानकर अपने अनन्त चतुष्टय वैभव को जानकर अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव मे पूर्ण श्रद्धा कर जो अपने मे ही स्थित हो जाता है वह अपनी पूर्ण रूपता को प्राप्त कर लेता है।

अत हे भव्य जीव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र की पूर्णता से ही तू कर्मों के बन्धन से बच सकता है।

आत्म ज्ञानी के द्रव्यास्रव और भावास्रव का अभाव हो जाता है —

राग, द्वेष अरु मोह भाव से ही बन्धन जग मे होवे।
ज्ञानी के सद्भाव न इनका अतः बन्ध किस विधि होवे ॥१४७॥

आत्मोन्मुखता जब बढ़ती है आस्रव तब कम हो पाता है।
आस्रव भावों के हटने से आत्म ज्ञान हो जाता है ॥१४८॥

इस विधि ज्ञानी के अभाव भावास्रव का हो जाता है।
द्रव्यास्रव तो स्व स्वभाव से भिन्न सदा ही रहता है ॥१४९॥